Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. V, Issue X, April-2013, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक उपन्यास – नारी के मन–मस्तिष्क का द्वन्द्व

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. V, Issue X, April-2013, ISSN 2230-7540

स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक उपन्यास – नारी के मन–मस्तिष्क का द्वन्द्व

Dr. Deep Chand

Phd Kurkshetra University

----------X----------

अलिखित विधि–नियमों द्वारा संतुलित एवं संचालित सामूहिक मानव–जीवन की अपन–संज्ञा ही '' समाज '' है। सतत् परिवर्तन के अनिवार्य नैसर्गिक नियम के संदर्भ में यह समाज कोई अपवाद की स्थिति नहीं रखता है, जिसके कारण सनातन युग से संप्रति काल तक इतिहास में इस समाज के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। सामाजिक जीवन के आधारभूत मूल तत्वों में – उस समाज में प्रचलित परंपरायें, नैतिक मूल्य, विविध वर्गों के मध्य स्थापित संबंधसूत्र आदि प्रमुख हैं, परन्तु उन आधार भूत तत्वों के माध्यम विषेषतः पुरूष और नारी के संदर्भ में जो दोहरेपन की स्थिति उत्पन्न हो गयी है, उससे पुरूष और नारी के संबंध को स्थायित्व प्रदान कर सकने वाला सद्भावना सूत्र विनष्ट हो गया है और एक संघर्ष की भावना ने उसका स्थान ग्रहण लिया। सामाजिक स्तरीय यह संघर्ष वैचारिक धरातल पर जब नारी में प्रविष्ट हुआ, तब उसी ने उसके अंतर्द्वन्द्व का रूप लिया। नारी के संदर्भ में उसके इस अंतर्द्वन्द्व को प्रभावित करने वाले अन्य प्रमुख तत्व प्रेम, विवाह, आर्थिक–स्वावलंबन, प्राप्त सामाजिक अस्मिता आदि हैं। भावना नारी की सजह वृत्ती है, लेकिन बौद्धिक विकास की अबाध गति के कारण नारी बुद्धि–तत्व को अपनाने के लिए विवष होती जा रही है, परिणामतः नारी का व्यक्तित्व सनातन संस्कारों और आधुनिकता के आपसी संघर्ष का केन्द्र बन गया है और नारी का यह अंतर्द्वन्द्व तथा उसकी विविध प्रतिक्रियायें अर्वाचीन साहित्यकारों की रूचि के विषय बने। विषेषतः जीवन के संपूर्ण चित्र को प्रस्तुत करने वाली औपन्यासिक विधा में नारी के ह्रदय और बुद्धि का उक्त अंतर्द्वन्द्व नारी के विविध रूपों के परिप्रेक्ष्य में पूर्ण सहजता के साथ वर्णित हुआ है। जहाँ उच्चवर्ग की नारी फैषन परस्ती और पष्चिमी सभ्यता के प्रति आकर्षण के लिए पहचानी जाती है और निम्नवर्ग की नारी अपने शोषणपूर्ण जीवन के लिए, वहीं भारतीय समाज की मध्यवर्गीय नारी अपनी विवषतापूर्ण अंतर्द्वन्द्व की स्थिति के लिए पहचानी जाती है, क्योंकि उसमें प्राचीन भाव–भूमि को त्यागने का ही साहस है, न ही नवीनता को खुलकर अपनाने का। नारी यह मानसिक दुर्बलता स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य के एक विषेष खंड के लिए सुदृढ़ नींव–सी बन गयी।

इस अध्याय में उपन्यास साहित्य के विपुल भण्डार से उन कतिपय सामाजिक उपन्यासों को विष्लेषनार्थ लिया गया है, जो विवेच्य विषय का प्रतिनिध्य करते हों। औपन्यासिक साहित्य की विपुलता को देखते हुए इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि विवेच्य विषय से संबंध कुछ और उपन्यास विष्लेषण से परे रह गये हैं। यहाँ इस अध्याय में चर्चित उपन्यास इस प्रकार है – मेरी तेरी उसकी बात (यषपाल), रेखा (भगवती चरण वर्मा), मुक्तिपथ (इलाचन्द्र–जोषी) सीधे–सादे रास्ते (रांगेय राघव) धर्मपुत्र (चतुरसेन), बगुला के पंख (चतुरसेन), अचल मेरा कोई (वृन्दावनलाल वर्मा), पुनर्नवा (हजारीप्रसाद द्विवेदी), बूंद और समुद्र (अमृतलाल नगर), नाट्यो बहुत गोपाल (अमृत लाल नागर), प्रेम अपवित्र नदी (लक्ष्मी नारायण लाल), अंतराल (मोहन राकेष), दोहरी आग की लपट (देवराज), कुलटा (राजेन्द्र यादव), छाया मत छूना मन (हिमांषू जोषी), अचलाः एक मनः स्थिति (मुद्राराक्षस), निस्संगता (ब्रजनारायण सिंह) बीच के लोग (रामकुमार भ्रमर)। समाज के विस्तृत फलक पर उभरने वाली राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि समस्याओं की पृष्ट भूमि पर उपन्यास प्रणघन करने वाले यषपाल की कलम को आलोचक मनोवैज्ञानिक कि तथ्यों के विष्लेषण में कुछ षिथिल हो पाते हैं, क्योंकि उनकी बहुतायत रचनाओं में व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि ही समस्त संदर्भों के साथ उभर पायी है। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित यषपाल की बौद्धिक दृष्टि कतिपय संदर्भों में ही व्यक्ति के अंतस की अथाह गहराईयों में झाँक पाई है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यषपाल के अपने उपन्यासों में मन अथवा ह्रदय की अस्मिता को पूर्णतः प्रतिषोधित करते हुए केवल मस्तिष्क की पक्षधारा को ही ग्रहण किया है। यूँ तो उन्होंने अपने बृहद उपन्यास '' झूठा–सच '' के द्वितीय भाग '' देष का भविष्य '' में एक प्रमुख नारी पात्री डॉ. श्यामा के माध्यम मन और मस्तिष्क के अस्तित्व, उनके संघर्ष का संकेत अप्रत्यक्षतः ही सही दे दिया है। यथाः '' तरसना ही प्यार है ? प्यार क्या संतोष नहीं चाहता ? रक्त–माँस का उन्मेष ही सही, पर ह्रदय और क्या है, मस्तिष्क और क्या है ? शरीर को काटकर परीक्षा करने से तो ह्रदय में प्यार या मस्तिष्क में विचार रखे हुए नहीं मिलते। प्यार और विचार शरीर का व्यवहार मात्र है।''[1] अतः स्पष्ट है कि यषपाल ने भी यंत्र7तंत्र मन संबंधी तथ्यों का उल्लेख किया है। ध्यातव्य है कि यहाँ विवेच्य उपन्यास '' झूठा–सच '' नहीं प्रत्यत यषपा का एक अन्यतग बृहद उपन्यास '' मेरी तेरी उसकी बात है।''

उपन्यास '' मेरी तेरी उसकी बात '' में राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक उथल–पुथल की विस्तृत व्याख्या होने के साथ–साथ वैयक्तिक अस्मिता हेतु उत्पन्न सांस्कारिक संघर्ष की भी कहानी है। इसमें संकरीली धार्मिक वैचारिकता को प्रगति के विस्तृत पथ पर आचरणात्मक ढंग से गतिमान करने के साथ वैचारिक उत्थान का उपक्रम भी लवित होता है। क्रमागत नैतिक मूल्यों की तिरस्कृति करते हुए उस रिक्तता को नये जीवन दर्षन के साथ पूरित करने की आस्था भी इस उपन्यास में अभिव्यंजित हुई है।

एक ओर पुत्र की भावनाओं और उसके भविष्य को लेकर चिन्तित माँ का ह्रदय तो दूसरी ओर दूसरे पुरूष की द्वितीया बनने की मस्तिष्क की प्रेरणा ऊषा को झकझीर देते हैं। लेकिन इस आंतरिक द्वन्द्व में नारी का मातृ ह्रदय विजयी हो जाता है। इस तथ्य के समर्थन में डॉ. विवेकीराय का कथन अत्यंत समोचीन प्रतीत होता है। यषपाल की साम्यवादी दृष्टि–राजनीतिक संघर्ष और मूल्यानुंसक्रमण–युग में एक सनातन मानवीय–मूल्य और नारी की पूर्ण प्रतिष्ठा में लगी हुई है। समाज, धर्म, जाति, परम्परा, पति, नैतिकता और व्यवस्था से

www.ignited.in

संघर्ष करती, जूझती और सबको तोड़ती नारी वात्सल्य के सामने मुड़ गयी, बलि हो गयी।''[1] ऊषा को अपने आंतरिक द्वन्द्व से मुक्ति पाने में कहीं अधिक तनाव का अनुभव नहीं होता है। वह अपनी उस द्वन्द्व मुक्ति का स्पष्ट संकेत देते हुए कहती है–''निरर्थक मान्यताओं और संस्कारों को स्वीकार नहीं कर रही हूँ, परन्तु समाज को एक झटके से नहीं बदल सकती। क्रान्ति लोगों को तोड़ना नहीं, मोड़ना है। परन्तु बेटे के मन में कुंठा के संस्कार मिटाए बिना तुम्हारी पत्नि होने का संतोष और गर्व न पा सकूँगी। स्वार्थ में बेटे की हीनता अनुभव करने देना मुझ असह्य है। – मैं बैठे की भावना को अपने संतोष के लिए बलि न होने दूँगी–बलि होगी तो मेरी–।''[2]

भावुकता की प्रतिमूर्ति और अदम्यवासना की अनन्तधारा के रूप में नितांत एबनार्मेल सी प्रतीत होने वाली जिस नारी का चित्रण भगवतीचरण वर्मा ने सन् 1964 ईसवीं में प्रकाषित अपने उपन्यास रेखा में किया उसकी यथार्थता के संबंध में स्वंय लेखक ने जो कारण प्रस्तुत किया है उसके परिप्रेक्ष्य में वह नारी एकदम नार्मल ही प्रतीक्षा होनी चाहिए, यथा '' विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप आज के युग का बौद्धिक–तत्व भौतिकता की ओर झुक गया, और इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के बौद्धिक तत्व ने भावना का साथ ही छोड़ दिया है। और इसका परिणाम स्पष्ट है – समाज में एबनार्मेल्टी।'' [2]

उपन्यास की पमुख नारी–पात्र रेखा अपनी भावना को तिलांजली न दे सकने और बौद्धिकता के प्रवाह में बह जाने के लिए विवष है और उसकी यह विवषता ही उसकी चारित्रियक असाधारणता बन गयी है, जिसमें उसका अंतर्द्वन्द्व उल्लेखनीय है। उपन्यास में वर्णित रेखा का अंतर्द्वन्द्व लेखकी बौद्धिक प्रतिभा का आकर्षण प्रतिफलन नहीं, प्रत्युत एक सामाजिक ईमानदारी का सच्चा बैयान है। डॉ. उमा शुक्ल के शब्दों में प्राचीन संस्कारों और नवीन का द्वन्द्व आज की नारी के लिए भीषण समस्याओं के रूप में बन गया है। इस द्वन्द्व में दोनों परिस्थितियों में वह अपने को '' मिसफिट '' पाती है। यही आज की सच्चाई है।''[1]

दिल्ली विष्वविद्यालय के दर्षन–विभाग में एम.ए. फाईनल की एक अत्यंत प्रतिभाषील–छात्रा है–रेखा'' जो अपने रूप से ही नहीं अपितु बुद्धिमत्ता से भी विभागाध्यक्ष अधेड़ उम्र के विधुर प्रभाषंकर को बहुत प्रभावित करती है और अपने निबंध की तैय्यारी के संदर्भ में उनकी सहायता भी प्राप्त करती है। इस सिलसिले में एक दिन जब वह उनके घर जाती है तो वहाँ उसका परिचय देवकी से होता है। प्रभाषंकर और देवकी का अनैतिक संबंध रेखा की बौद्धिकता के सम्मुख छिप नहीं पाता है। प्रभाषंकर के पूछने पर रेखा अपनी इस सूक्ष्म दर्षिता का परिचय देते हुए बड़ी शालीनता के साथ कहती है –

'' यह भी कोई पूछने की बात है सर ? वह आपकी बहन हो नहीं सकती, वह आपकी कोई निकटस्थ रिष्तेदार भी नहीं हो सकती। अगर वह आपकी कुछ भी हो सकती है तो आपकी कमजोरी । ग्रीष्मावकाष में रेखा प्रभाषंकर की अपने यहाँ जबलपुर आने का निमंत्रण देती है। प्रभाषंकर के आने पर उनका आदर रेखा बड़ी तन्मयता के साथ करती है। उनके प्रति रेखा की भावुकतापूर्ण आत्मीयता और श्रद्धा दिनोंदिन बढ़ते ही जाते हैं। रेखा जब प्रभाषंकर के साथ नैनिताली मौसी के घर जाती है, तभी उसके परीक्षा–परिणाम निकलते हैं और वह प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होती है। भावुकता की चरम–सीमा के उन षणों में प्रभाषंकर रेखा के प्रति अपनी प्रेमानुभूति को व्यक्त करते हैं और उनके प्रति अपनी प्रेमानुभूति को व्यक्त करते हैं और उनके प्रति अपरिसीम श्रद्धा रखने वाली रेखा कहती है शायद नारी का प्रेम पुरूष का प्रेम पाने की भावना हो, नारी तो अनुगमन करना चाहती है। और प्रोफेसर, मैं न जाने कब से आपकी अनुगामिनी बन चुकी हूँ।[2] पारिवारिक विरोध की उपेक्षा कर रेखा प्रोफेसर के साथ विवाह सूत्र में बंध जाती है। कुछ समय बाद किसी आर्थिक सहायता की अपेक्षा में जब देवकी उनके घर आती है, तब उसके ढलते रंग–रूप को देखकर रेखा में एक वितृष्णासी उत्पन्न होती है, लेकिन दूसरे ही क्षण उसकी बुद्धि प्रष्न कर बैठती है कि क्या उसके पति का यौव्वनवासी नहीं पड़ गया है ? इससे रेखा चौंक उठती है। उसके मन में एक खंलबली–सी मच जाती है। वह विचारती है।

लगभग एक वर्ष बाद रेखा का भाई अरूण अपने एक व्यापारी मित्र सोमेष्वर दयाल के साथ अमेरकिा से दिल्ली आता है। इस प्रथम परिचय में ही सोमेष्वर की बंधन–हीन पसंद प्रवृत्ति रेखा के आकर्षण का कारण बनता है। विदेषी मित्रों के साथ प्रभाषंकर के आगरा जाने पर रेखा का तन सोमेष्वर की समर्पित होने के लिए मचल उठता है। लेकिन तत्काल उसका ह्रदय उसे टोकते हुए सचेत करता है '' यह शरीर की भूख बड़ी खतरनाक है, इतना समझ लो। यह शरीर की भूख बुद्धि को निष्ट कर देती है। यह कटु और कठोर सत्य है। अब भी मौका है। तुम बच सकती हो, लौठ चलो।''[2] परन्तु दैहिक धरातल पर पति से असंतुष्ट और अब तक उस अतृप्ति को अनभिव्यक्ति के पट पीछे रखने वाली उसकी तर्क–बुद्धि, ह्रदय के विरोध में कहती है। चुप रहो, भूखभूख है, वह दबाने के लिए नहीं होती, वह शान्त करने के लिए होती है। भूख प्रकृति है, उसे दबाना प्रकृति के साथ अन्याय करना होता है।''[3] ह्रदय पर बुद्धि के विजय के कारण रेखा की दैहिक बुभुक्षा शांत तो हो जाती है, परन्तु तब उसमें भीषण अंतर्द्वन्द्व मच जाता है। उसका ह्रदय कहता है कि उसने पति से विष्वासघात किया और उसकी बुद्धि कहती है कि उसने नैसर्गिक–धर्म का अनुसरण किया तथा इसकी सूचना पति को देकर उसे भी दुःखी नहीं करना चाहिए क्योंकि उस सूचना मात्र से न उसका कलंक धुल जायेगा, न ही उसकी चारित्रियक विषुद्धता लौट ही आयेगी। इस तर्क से ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित रेखा अपनी भूल को दोहराने के लिए ही

बुद्धि से ऐसा संबल ग्रहण कर रही है। तन की अतृप्ति के ज्वार के उत्तर जाते ही रेखा में भावुकता उफनने लगती है और वह सोमेष्वर से होटल में मिलकर स्पष्ट शब्दों में कहती है '' शरीर की भूख बड़ी जल्दी शान्त हो जाती है। अजर, अमर और अक्षुण्ण शरीर नहीं, आत्मा है। मरी भावना के क्षेत्र में तुम्हारा नगण्य–सा स्थान है।''[1] सोमेष्वर अमेरिका लौट जाता है, लेकिन रेखा को उसका गर्भ ठहर जाता है और भयाक्रांत रेखा प्राणों की बाजी लगाकर गर्भ–पात करना लेती है। ग्रीष्मावकाष में वह प्रभाषंकर के साथ मसूरी जाती है। और बड़े नाटकीय ढंग से वहाँ शीरी चावला को आत्मघात करने के बचा लेती है। इस संदर्भ में अप्रत्याषित ढंग से रेखा की घनिष्टता, शीरी के होने वाले पति, निरंजन कपूर से हो जाती है, जो पुनः अपने समर्पण में ही परिणत होती है। लेकिन पति को प्रवंचित करने की पापानुभूति की चेतना से रेखा में आत्मग्लानि की भावना उमड़ पड़ती है। वह एक और बार संकल्प करती है कि अब वह अपनी भूल को नहीं दोहरायेगी। इसी भावुकता में वह पति से कहती '' हम दोनों साथ रहें, साथ चलें, साथ घूमे–फिरे यही हमारा प्रोगाम है। आप मेरे देवता हैं।'' लेकिन विष्वविद्यालय के काम पर पति के दिल्ली जाते ही रेखा में तन की आग धधक उठती है और वह निरंजन से खुलकर मिलने लगती है। दिल्ली में लू लग जाने के कारण प्रभाषंकर को बीच में ही लौटना पड़ता है। और रेखा अपनी भूल के संदर्भ में रंगे हाथ पकड़ी जाती है।

प्रभाषंकर उसे मारने पर उतारू हो जाते हैं, तो निरंजन उन पर टूट पड़ना चाहता है, लेकिन रेखा उसे धक्का मार कर गिरा देती है और खुद पति के चरणों पर गिरकर कहती है मुझे और मारिए। मैंने पा किया है। जितना चाहिए मुझे मारिए, जैसा चाहे मुझे दण्ड दीजिए। मैं उफ् न करूँगी।''[2] इस घटना के उपरांत रेखा के प्रति प्रभाषंकर में एक अनभिव्यक्त घृणा लगती है। दिल्ली लौटने के कुछ समय बाद पोलिष दूतावास के एक सांस्कृतिक कार्यक्रम में रेखा का परिचय इटली में कार्यरत शषिकांतसे होता है। पति को धोखे में रखकर भौतिक–वासना तृप्ति के लिए गलत मार्ग पर चलने के लिए आदी हो चुकी रेखा अनायास ही शषिकान्त की ओर कदम बढ़ाती है और चार–पाँच दिनों बाद ही जब शषिकान्त रेखा को अपने साथ इटली चले आने के लिए कहता है, तो वह उसे भरपूर तमाचा मारकर लौट आती है। रेखा की दुर्बलता यह है कि वह अपने निर्णयों का विष्लेषण नहीं करना चाहती है, उल्टे वह पुरूष को ही दोषी मानती है। शषिकान्त से गाली–गलौज कर लौट आने के बाद वह पुनः द्वन्द्व में पड़ जाती है – '' उस समय रेखा पर यह भी स्पष्ट हो रहा था कि उसके अन्दर भी एक पशु है, शषिकान्त के अन्दरवाले पशु से कहीं अधिक सबल, कहीं अधिक उग्र। लेकिन उसके अन्दरवाले पशु से निरन्तर द्वन्द्व करता हुआ उसके अन्दर एक मानव भी है, भावना से ओत–प्रोत, सद–असद् के विवेक से युक्त।''[1]

रेखा को ऐहसास होता है कि अपने प्रति वह पति की जिस आस्था को खो चुकी है, कदाचित अब उसे वह उनमें पुनः उत्पन्न नहीं कर सकती है क्योंकि बार–बार उसके बहक जाने की शंका पति को हो चुकी है। इस विचार से रेखा कांप उठती है और पति को विष्वस्त करने के यत्न में कहती है'' आप मेरी बात पर विष्वास कीजिए। मैंने हमेषा आपसे प्रेम किया है, और उसका प्रेम पाकर मैं अपने को सौभाग्यशाली समझती हूँ। मैं कसम खाती हूँ कि सिवा आपके मैंने मैंने अभी तक किसी से प्रेम नहीं किया है और न किसी से प्रेम कर सकती हूँ।''[2] तन की भुभुक्षा के जगते ही बुद्धि का संबल ग्रहण करना और दुर्बल एवं असहाय पति को देखते ही असीम करूणा से द्रवीभूत हो जाना–ये ही रेखा की दुविधा का मूल कारण है। इन दोनों में से किसी एक तत्व पर भी काबू न कर पाना रेखा की त्रासदी है क्योंकि कि ये दोनों तत्व रेखा के लिए अति सहज से बन जाते हैं।

रेखा बार–बार भावुकता–वष यह निर्णय लेती है कि अब कदापि वह अपने पति को धोखा नहीं देगी, लेकिन ज्यों ही उसके सम्मुख कोई सबल आकर्षक व्यक्तित्व वाला पुरूष आ जाता है त्यों ही उसका निर्णय रेत की दीवार की भाँति ढह जाने लगता है। पति के साथ विष्वविद्यालय के काम पर बम्बई जाते समय कोटा रेल्वे जंक्षन पर रेखा का परिचय मेजर यषवन्त से होता है और बम्बई के एक होटल में पुनः दोनों की भेंट होती है।

यषवंत के व्यवहार से पहले रेखा कुछ उग्र–सी होकर नैतिकता की दुहाई देने लगती है, लेकिन अगले ही क्षण वह इस कदर बुद्धि के वषीभूत हो जाती है और भावुकता–प्रेम के साथ भौतिक वासना तृप्ति की अनिवार्यता को सिद्ध करती हुई कहती है '' प्रेम. . मेजर। प्रेम मैं आपसे नहीं करती, कर भी नहीं सकती। मैं प्रोफेसर को बेहद प्यार करती हूँ, और मैं नहीं चाहती कि प्रोफेसर के प्रति मेरे प्रेम में किसी तरह का आघात पहूँचे। मैं प्रोफेसर से बहाना बना लूँगी।''[1]

बम्बई में अचानक प्रभाषंकर अस्वस्थ हो जाते हैं और इस स्थिति मे वहाँ की विष्वविद्यालय का एक अध्यापक डॉ. योगेन्द्रनाथ मिश्र प्रभाषंकर और रेखा की बड़ी सहायता करता है। योगेन्द्र की प्रतिभा से प्रभावित होकर प्रभाषंकर उसे दिल्ली में अपने विभाग में बुलवा लेते हैं। प्रभाषंकर और रेखा के साथ योगेन्द्र का परिचय बढ़ने लगता है और यथावत योगेन्द्र की ओर आकृष्ट होने लगती है। रेखा की कमजोरी को भाँपते हुए योगेन्द्र उससे अपनी दुर्बलताओं पर विजय पाने की सलाह देता है, तो योगेन्द्र के प्रति प्रबल आकर्षण से प्रभावित रेखा तर्क करती है'' जानती हूँ, डॉक्टर। शरीर की कमजोरियों पर विजय पायी जा सकती है, अपनी आत्मा को दबाकर, उसे कुण्ठित करके। हमारे धर्मशास्त्रों में यही व्यवस्था की गयी है–व्रत, उपवास, तपस्या। अपनी आत्मा को कुण्ठित करके शरीर की कमजोरियों पर विजय पाना–कितना भोंडा विधान है।''[1]

प्रभाषंकर को स्वास्थ्य लाभ कराने के उद्देष्य से रेखा के पिता उन्हें युरोप के दौरे पर ले जाते हैं और रेखा को एहसास होता है कि अब वह पूर्णतः स्वाधीन हो चुकी है। एक सहेली के घर जाने के बहाने वह योगेन्द्र–नाथ के साथ रानी–खेत चली जाती है। योगेन्द्रनाथ रेखा से कहता है यदि उनके लिए गलती करना ही अनिवार्य है, तो उसे एक रहस्य बनाकर रखने के लिए उन्हें बुद्धि का संबल ग्रहण करना ही चाहिए। इस बात से रेखा अत्यंत दुःखी होती है। वह योगेन्द्र को इस बात का पूर्ण विष्वास दिलाना चाहती है कि योगेन्द्र के प्रति उसका यह आकर्षण मात्र भौतिक स्तर का नहीं, प्रत्युत एक यथार्थ प्रेम–भावना है। लेकिन अब तक का उसका वासनामय–व्यवहार, उसकी विषुद्ध प्रेमाभिव्यक्ति में बाधक बन जाता है। इस स्थिति में वह पुनः ऐसी दुविधा में पड़ जाती है और निष्चित् नहीं कर पाती है कि वास्तव में योगेन्द्र के प्रति उसके आकर्षण का प्रेरणा श्रोत भावना है अथवा बुद्धि ? अपनी इस दुविधा–पूर्ण मानसिकता की स्थिति में वह कहती है '' बुद्धि–बुद्धि। डॉक्टर, मै। तुम से पूछती हूँ कि क्या यह बुद्धि भावना की हत्या कर सकती है ? मैं कहती हूँ कि मैं तुमसे अलग नहीं हो सकती, तुम मेरे जीवन के अनिवार्य भाग बन चुके हों। उफ् मैं तुम से बेहद प्यार करने लगी हूँ।''[1]

यूरोप से लौटने के बाद भी प्रभाषंकर पूर्णतः स्वस्थ नहीं हो पाते हैं, तो दूसरी ओर रेखा और योगेन्द्र संबंधी बातें विष्वविद्यालय में फैलने लगती हैं। इसी मामले में एक अन्य अध्यापक अरोड़ा के साथ योगेन्द्र की हाथपाई तक हो जाती है।

कृद्ध प्रभाषंकर, रेखा और योगेन्द्र को अलग–अलग से चेतावनी देते हैं। अब रेखा अपने अंतर्द्वन्द्व से मुक्त होने के लिये विद्रोह का मार्ग अपनाते हुए योगेन्द्र से कहती है कि दुनिया चाहे कुछ भी समझ लें, लेकिन वह उससे मिलना नहीं छोड़ सकती है। इसी समय प्रभाषंकर को लकवा मार जाता है, तो दूसरी ओर योगेन्द्र ऑसलो जाने का निर्णय ले लेता है। रेखा अंतिम बार पति के प्रति करूणा योगेन्द्र के प्रति आकर्षण की द्विधामय स्थिति में पड़ जाती है। लेकिन पति जब उसके प्रति शंकित होता है, तब पति को उसी विवषता की स्थिति में छोड़कर रेखा योगेन्द्र के साथ विदेष चले जाने के लिए हवाई–अड्डे की ओर चल पड़ती है लेकिन तब तक विमान छूट जाता है और निराष रेखा लाटती है, तो पति की मृत्यु भी हो जाती है।

आद्यांत भावना और बुद्धि से जूझती रेखा अंततोगत्वा उन्माद की अत्यंत कारूणिक स्थिति को प्राप्त करती है। रेखा के साथ जो

सबसे बड़ी वैचारिक दुर्घटना हो गयी है, वह यह कि '' बेचारी रेखा दाम्पत्य–प्रेम और ममता के भावनात्मक अंतर को आँकने में पूर्णतः विफल हो गयी है। और इस विफलता को डॉ. योगेन्द्र बहुत पहले ही भाँप कर रेखा को संचेत करते हुए एक बार कहता भी है '' लेकिन मैं तुमसे फिर बड़ा बड़वा और कठोर सत्य कह रहा हूँ–तुम प्रोफेसर से प्रेम नहीं करती। उनके प्रति तुम्हारे अन्दर एक ममता की भावना है, तुम्हारी आत्मा पर उनकी आत्मा छायी हुई है लेकिन प्रेम यह तो नहीं है। प्रेम आत्मा और शरीर इन दोनों के समान भाव से एक–दूसरे में लय की प्रक्रिया का नाम है। ऐसा नहीं कि तू यह जानती न हो–ज्ञानवती को विवाह करने से रोकने के समय यह सत्य तुम्हारे सामने था, लेकिन अपने मामले में तुम स्वंय अपने को धोखा दे रही हो।''[1]

मनोवैज्ञानिक उपन्यास–साहित्य की महान विभूती पं. इलाचन्द्र जोषी हैं जिसका सन् 1950 ई. में प्रकाषित '' मुक्ति पथ '' एक सषक्त सामाजिक उपन्यास है जिसमें भारतीय समाज के अत्यंत व्यथित नारी रूप का वर्णन किये जाने के साथ–साथ उसके अंतर्गत में विद्यमान आत्मकरूण और उसकी विद्रोही चेतना का प्रभावपूर्ण विष्लेषण भी है। उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र सुनन्दा एक विधवा है, जो पुरूष–पुरूष राजीव की समाजपरक भौतिक विकासवादी विचारधारा से त्रस्त होकर, जिसमें कि मानवीय सहज रागात्मक वृत्तियों के लिए स्थान नहीं है, विद्रोह कर बैठती है। इन दो विद्राही कदमों के मध्य सुनन्दा को अंतर्द्वन्द्व की जिन स्थितियों से गुजरना पड़ा, उसका मार्मिक विष्लेषण लेखक ने बड़ी सजगता से की है। सुनन्दा के माध्यम लेखक नारीत्व की चरम परिणति के प्रष्न का जो उत्तर दिया है, वह एक सच्चे स्नेही पुरूष का साथ चाहती है। उससे प्यार करती है और भावनाओं की कसौटी पर पूरे उतरे पुरूष के प्रति वह आत्म–समर्पण तक कर देना चाहती है। नारीत्व की यह चिर–कामना अकेली सुनन्दा की ही आकांक्षा नहीं है अपितु नारी मात्र की चाह है, जिसकी पूर्ति वह एक सीमित अवधि में चाहती है और वह अवधि यदि बीत जाती है तो वह विद्रोह तक कर सकती है।''[1]

मुरादाबाद की नगर पालिका में मुन्षी का कार्य करने वाले पिता की तीसरी संतान है–मुरन्दा। बड़ी कठिनाई से मुन्षी जी दो लड़कियों का ब्याह कर पाते हैं। आर्थिक तंगी के कारण सुनन्दा की पढ़ाई विलम्ब से होती है और वह सोलह साल की उम्र में हाई स्कूल पास करती है। मुन्षी जी के सनन्दा के लिए वरान्वेषण के सभी प्रयत्न विफल हो जाते हैं और इसी चिंता में एक दिन उनकी मृत्यु भी हो जाती है। विधवा–माँ रो–धोकर अड़ोस–पड़ोसवालों की संवदेना और सहयोग से सुनन्दा का विवाह एक अधेड़–तिहाज, कचहरी अहलमद से कर देती है, लेकिन बिदाई के दूसरे दि नही सुनन्दा भाग आती है। इस पर माँ बेटी में छः महीनों तक डटकर झगड़ा होता है, जिसके बाद सुनन्दा को अनाथ छोड़ माँ भी चल–बसती है। कुछ दिनों तक मामा के घर रहने के बाद सुनन्दा माता के भांजे उमाप्रसाद के यहाँ लखनऊ पहुँच जाती है, जहाँ अपने मिलनसार व्यक्तित्व के कारण सुनन्दा को हमेषा के लिए टिक जाना पड़ता है। उमा प्रसाद के घर में क्रान्तिकारी दल का सदस्य और बेरोजगार राजीव के आने तक सुनन्दा का जीवन–चक्र घर के बच्चों से बड़ों तक की निरंतर सेवा में ही बीतता रहता है। घर के सभी लोग उसके व्यक्तित्व से प्रभावित रहते हैंः यहाँ तक कि क्रान्तिकारी विचारों वाले राजीव की धौंस भी उसके आगे चल नहीं पाती है।

थोड़े ही दिनों में राजीव सुनन्दा के संवेदनषील व्यक्तित्व और उसकी तर्क–षक्ति से भली–भाँति परिचित हो जाता है। अपने क्रांन्तिकारी और प्रगतिषील विचारों के कारण राजीव को एहसास होता है कि सुनन्दा की प्रतिभा और व्यक्त्वि विकास के लिए परिवार का यह दायरा अत्यंत सीमित है और सुनन्दा भी आत्मोत्थान हेतु अवष्य आंतरिक छट–पटाहट से त्रस्त है। एक दिन राजीव अचानक अपने इन्हीं विचारों को सुनन्दा के सम्मुख व्यक्त करते हुए कहता है '' सनन्दा, जितनी ही सुन्दर हो उतनी ही महान् भी। इसलिए एक बात मैं तुमसे कह देता हूँ। घर–गिरस्तों की यह चहर दीवारी चाहे कैसे ही मजबूत इस्पात की बनी क्यों न हो, वह तुम्हारे समान तेजस्विनी नारी को अपने घेरे में सदा के लिए नहीं बाँध सकती। या तो वह तुम्हारे तेज से गलकर वह जायेगी या तुम्हें जल्दी ही एक दिन स्वंय आते ही तेज में अपनी ही आहुति दे देनी होगी।''[1] राजीव के ये शब्द सुनन्दा के अंतस को उद्देलित कर देते हैं। ध्यातव्य है कि इस संदर्भ में राजीव दीर्घ समय से अपने विचारों में पारिकल्पित एक नव–समाज निर्मान–कार्य में सुनन्दा को भागीदार बनाना चाहता है और दूसरी ओर सुननदा को राजीव के उद्देष्यों और कार्यक्रमों की पूर्ण आभा नहीं मिल पाती है। जिन सामाजिक बन्धनों के उच्छेदन की ओर राजीव का संकेत है, उसे सुनन्दा कुछ सीमा तक दूसरे मायने में ही लेती है, जो आगे चलकर उसके अंतर्द्वन्द्व का मूल कारण बनता है।

अपनी सामाजिक अस्मिता, विवषताओं और क्रमागत परपराओं से परिचित सुनन्दा के मन में राजीव के शब्दों से द्वन्द्व के जो बीज पड़ जाते हैं, उनके प्रस्फुटन की आभा स्वंय सुनन्दा को कुछ इस प्रकार होने लगती है – '' पर आज राजीव ने केवल दो वाक्यों द्वारा सहसा एक ऐसी तुफानी हलचल उस नहर के बँधे हुए प्रवाह में मचा दी थी कि लगता था जैसे प्रलय की बाढ़ की उत्ताल तरंगें भोमवेग से उमड़–उमड़कर अपने चारों ओर के लौह–बन्धनों को तोड़ती और ढाती हुई अपने, पूर्व–प्राकृतिक और आदिम रूप में मिलकर एकाकार होने के लिए व्याकुल हो उठी है क्या उस बाढ़ में निर्द्वन्द्व बहे चले जाने का साहस उसमें है ? क्या वह अपने दो दुर्बल हाथों के अषक्त पतवारों से अपने जीवन की जीर्ण और जर्जर नाव को उसमें खेते हुए पार लगा सकने में समर्थ है ? वह समर्थ हो चाहे न हो, पर अब वह बाढ़ तो कैसे रोके नहीं रूकना चाहती ?''[1]

नारी सहज अपेक्षाओं से संबद्ध जिन सुखद अनुभूतियों से सुनन्दा वंचित हो गई है उनका स्पष्ट बोध स्वंय सुनन्दा को है, परन्तु राजीव उससे जिन सामाजिक लौह–पटों को विच्छिन्न कर देने की बात कह रहा है, उनकी कठोरता को भी समझ उसमें है। इसी संबंध में वह राजीव से अपना तर्कपूर्ण प्रष्न करती है '' युग–युग में इतने महापुरूष हो गये हैं, जो आजीवन समाज का अंधसंस्कारों से घिरा हुआ रूढ़िगत दृष्टिकोण बदलने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करते रहे है। समाज ने उन्हें गालियाँ भी दी हैं और उनका आदर भी किया है।

पर उनके सारे उपदेष रूढ़िगत समाज के वज्र–कठोर चमड़े पर पानी की बूँदों की तरह छितराकर रह गये हैं। उस चमड़े के भीतर अपनी अमृतवाणी की एक बूँद भी प्रविष्ट करा सकने में वे असमर्थ हुई हैं। आप को क्या यह विष्वास है कि जिन कारणों से वे महापुरूष अपने विराट ध्येय की पुर्ति में असफल हुए हैं उन कारणों के मूल बीजों को परखकर उन्हें सुधाकर आप एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकेंगे जिससे समाज के बाहर का वह कड़ा चमड़ा या तो झिल्ली की तरह फट जाये और उसके भीतर से एक ऐसा नया चमड़ा निकल आये जिसका अणु–अणु नये जीवन–रक्त के संचार से फड़कता हो और जिसका प्रत्येक रोम–कूप नयी जीवन रस–धारा को अपने भीतर खींचकर उसे जस्ब कर लेने में समर्थ हों ?''[1] सुनन्दा के इस प्रष्न में उसकी

www.ignited.in

वह मानसिक संदिग्धता रूपायित होती है जिससे यह स्पष्ट होता है यदि वह राजीव के निर्देषानुसार कोई विद्रोहात्मक कदम उठाये भी तो, वह कहाँ तक सफल हो सकेगा ? अपनी नारी सहज अपेक्षाओं को स्वर न देने पर भी वह उनकी भावि सफलता के प्रति पूर्णतः आष्वस्थ नहीं हो पाती है।

नौकरानी को बातों में पड़कर उमा प्रसाद की पत्नि कृष्णा, सुनन्दा को प्रमीला के विवाह संबंधी तैय्यारियों से निष्कासित–सी कर देती है, जिससे उसे असीम व्यथा होती है, लेकिन सुनन्दा को प्रमीला से पूर्ण सांत्वना मिलती है। राजीव के प्रति सुनन्दा की आत्मीयता का एहसास होने पर एक दिन प्रमीला उसी संदर्भ में सुनन्दा से प्रष्न कर बैठती है।

इस संबंध में अपनी विवषताओं और अपेक्षाओं से परिचित सुनन्दा अपने अंतर्द्वन्द्व को स्वर देती हुई कहती है '' मैंने आज तक स्वंय अपने मन से भी यह बात छिपा रखी थी। मैं बहुत दुःखी हूँ, हजारों बंधनों में जकड़ी हुई हूँ, अकेली हूँ, असहाय हूँ। मुझे क्या इस तरह के विचार अपने मन में लाने चाहिए।''[1]

एक कम्पनी में बढ़ईगिरी का काम मिलने पर राजीव अलग कमरा लेकर रहने लगता है। अपने घर में सुनन्दा पर ढाये जा रहे मानसिक अत्याचार से दुःखी होकर प्रमीला एक दिन राजीव और सुनन्दा को लेकर बाजार जाती है और रोजमर्रा की आवष्यक चीजें खरीदकर राजीव के घर में पहुँचा देती है। वह सुनन्दा से भी कहती है कि अब आगे से उसे वहीं रहना होगा, जिससे सुनन्दा घबरा उठती है, लेकिन जब प्रमीला यह कहती है कि अब तक तो राजीव और सुनन्दा को लेकर कई फूहड़–बातें मुहल्ले में नौकरानी ने फैला रखी है, इसलिए अब उसका वापिस लौटना उचित न होगा, तब सुनन्दा प्रमीला के प्रस्ताव को मानती है।

सुनन्दा में साहस की कोई कमी नहीं है। वह अपने जीवन के इस नये परिवर्तन को बड़ी सहजता के साथ लेती है। दाम्पत्य–जीवन की सुखद अनुभूतियों से वंचित सुनन्दा का ह्रदय अपनी गहराईयों में उत्पन्न उन अनुभूतियों की संभावनाओं की कल्पना मात्र से आनन्द विभोर हो उठता है। वह घर के कामों में लगने के साथ–साथ राजीव से कहती है '' सच, तुम्हें अपने मन की चीजें अपने हाथ से बनाकर खिलाने की इच्छा मेरी बहुत दिनों से है।''[1]

दो–तीन दिनों के बाद ही प्रमीला से यह सूचना पाकर कि उमा प्रसाद थाने में षिकायतकर राजीव पर मुकदमा चलाने वाले है, दोनों लखनऊ छोड़कर एक अज्ञात शहर के शरणार्थी षिविर में जा बसते हैं। राजीव अपनी कड़ी मेहनत और सुनन्दा अपनी सेवाओं से उस षिविर को ढाई वर्ष में ही '' मुक्तिनिवेष '' के नाम से एक आदर्ष कॉलोनी का रूप दे देते हैं। राजीव के स्वावलम्ब, स्वश्रम और सम–सम्राज के आदर्षों और उनके क्रियान्वयन संबंधी योजनाओं से सुनन्दा अत्यंत प्रभावित तो होती है, परन्तु जीवन में रागात्मक वृत्तियों और अनुभूतियों का अभाव उसे कचोटने लगता ही नहीं, प्रत्युत राजीव द्वारा निर्देषित यांत्रिक जीवन शैली में उसे असह्य घुटन का भी अनुभव होने लगता है, परिणामतः सुनन्दा में पुनः एक अंतर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वह राजीव से कहती भी है '' कोई अवकाष का क्षण ऐसा नहीं होता कि तुम्हारे साथ सुख–दुःख की दो–चार बात की जा सकें। मुझसे इस तरह कतराते हो, जैसे मैं विघ्नस्वरूप होऊँ। आखिर यह वज्र कठोर भाव कब तक बना रहेगा तुम्हारा?''[2]

लखनऊ से जिन–नारी–सहज अपेक्षाओं के साथ सुनन्दा चल पड़ी थी, उनके साकार न हो सकने की स्थिति को सामने देखकर सुनन्दा सिहर उठती है। वह देखती है कि राजीव समिष्टि के विकास में इतना तल्लीन है कि उसे वैयक्तिक जीवन और नैसर्गिक अनुभूतियों की किंचित चिंता भी नहीं है। इतना ही नहीं वह राजीव के उस महायज्ञ का एक साधन मात्र है, जिसमें नारीत्व और जीवन की सहजता नितांत उपेक्षित होती जा रही है।

जीवन की सहजता बंधनों में है न कि बंधनहीन, अनुषाषित मुक्तिनिवेष की यांत्रिक–जीवन–षैली में। ऐसी स्थिति में जीवन को भौतिक–विकास के नाम पर निरा यंत्र–चालित–सा बना देने का अर्थ जीवन की पूर्ण उपेक्षा कर देना ही है। सुनन्दा अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए कहती है '' अंतर्जगत् के सुख–दुःख, स्नेह–प्रेम, राग–विराग, ह्रास और रूदन, संवेदन और अनुभावन की प्रवृत्तियों को नितान्त उपेक्षा करके, केवल बाहरी योजनाओं की सफलता और बाहरी व्यवस्था के ध्येय की पूर्ति के उद्देष्य से ही मानवीय जीवन का अस्तित्व मानकर चलना जाग्रत जीवन–चेतनों से फड़कते हुए मनुष्यों का काम नहीं है। यह केवल यंत्र–पारिचालित मनुष्यों का काम है, क्या इतनी सीधी–सी बात भी तुम्हें समझानी पड़ेगी ?''[1] लेकिन सुनन्दा का दुर्भाग्य उसकी परछाई ही बना रहता है, क्योंकि इतना कुछ कह देने पर भी नारी ह्रदय का वह संवेदन–सूत्र राजीव की पकड़ में नहीं आ पात है। सुनन्दा को एहसास हो जाता है कि वह अपने प्रति राजीव में जिस परिवर्तन की अपेक्षा करते हुए अपनी आषाओं को जीवित रखती आयी है, वे अब कदापि पूर्ण नहीं होंगी। उस समय तक एक सुखद पारिवारिक रूप में साकार होने के लिए सुनन्दा के अंतस् में प्रतीक्षित भावना और राजीव के सहारे विकास के मार्ग पर अग्रसर उसकी (सुनन्दा) बुद्धि में जो भीषण द्वन्द्व चलता रहता है, वह कुछ विद्राहात्मक स्वर में यूँ मुखरित होता है–''

आपने यह नहीं सोचा कि किसी भी कुटुम्ब की व्यवस्था का सुचारू संचालन केवल जड़–बंधनों को मौन भाव से स्वीकार कर लेने वाले यंत्र–परिचालित पुतलों और पुतलियों द्वारा नहीं होता। उन पुतलों के भीतर प्राणस्पन्दन कर सकने वाले, स्नेह–प्रेम, करूणा और ममता का अंतःस्त्रोत निरंतर बहाते रहने वाले किसी महाप्राण–प्रेरक की आवष्यकता मूल रूप में होती है। मैंने उसी सूत्र में आपको पाने की आषा इतने दिनों तक बाँध रखी थी। मैं मनुष्य हूँ, राजीव बाबू, कोई यंत्रचालित पुतली नहीं। मैंने सारे पिछले बंधनों को तोड़कर जो आपका साथ दिया था, वह केवल इस मूलगत आषा से कि मेरे अन्तर्जीवन को अनन्त प्रसारित जलती हुई मरूभूमि को भी आप अंतःप्राणों के अविरल स्नेहरस से सींच–सींचकर, बाहर की बंजर भूमि की तरह ही, उर्वरा और हरा–भरा बना पायेगें। पर आपको तो केवल मेरे बाहरी जड़–श्रम की आवष्यकता थी। भीतर के स्नेह–रस–संचित आश्रय की नहीं।''[1]

कभी दांपत्य–जीवन में समानाधिकरों को लालच दिखाकर, तो कभी पूर्ण स्वाधीनता के नाम पर उच्छृंखलता को छूट देकर पुरूषवर्ग विष्व–मंच पर नारी के साथ प्रवंचना का जो नाटक खेल रहा है, उस पर यथाषीघ्र परदा डाल देने की आवष्यकता का अनुभव सुनन्दा करती है, जिसके लिए वह राजीव की यांत्रिक विकासवादी राह को छोड़कर एक नये मुक्तिपथ का निर्माण करना चाहती है जिस पर चलकर नारी एक सहज

परिवेष में जीवन को मानवीय रागात्मक वृत्तियों के संबल पूर्णता प्रदान कर सके।

समंतवादी विचारधारा के रामनाथ के मझले पुत्र उमानाथ की धर्मपत्नि महालक्ष्मी है, जो भारतीय आदर्षों के सांचे में ढली एक परम्परा–वादिनी, पतिभक्ता नारी है, जिसका शीतल और कोमल प्रेम पति उमानाथ की भौतिकवादी ज्वाला को शांत नहीं कर पाता है इसलिए उमानाथ अपनी जातिगत सहज प्रवृत्ति के अनुरूप दैहिक क्षुधा तृप्ति हेतु इधर–उधर भटकने लगता है, जबकि पति परायणा महालक्ष्मी पति की प्रेमिका हिल्डा की दासी तक बनने को उधत हो जाती है, क्योंकि पति का सुख हो वह अपना सुख मानती है लेकिन पति–पत्नि के ऐसे संबंध प्रसंगों में आदि काल से पुरूष की ओर से जो प्रतिक्रिया होती आ रही है। वही महालक्ष्मी के संदर्भ में भी व्यक्त होती है, क्योंकि महालक्ष्मी कोई अपवाद स्वरूपा नारी नहीं है। पति द्वारा पूर्णतः उपेक्षित होने पर भी आरम्भ में महालक्ष्मी में किसी भी प्रकार की विद्रोही प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। लेकिन जब पति उमानाथ शीलराज के रूप में सामने प्रकट होकर उसके साथ अपरिचित–सा व्यवहार करता है, तब एक साथ उसके व्यक्तित्व में निक्षिप्त बौद्धिकता और ह्रदय अपने–अपने सहज रूपों में लेखक के शब्दों में इस प्रकार अभिव्यंजना पाते हैं '' महालक्ष्मी एक तृष्णा से उसे घूर रही थी। वह मन–ही–मन कृदध हुई। छलिया। झूठा। और फिर मुझे ही आँखें दिखा रहा है ? उसने कहा '' यही है आपका विलायत? यही है आपकी किसान–मजदूरों की लड़ाई ? उसके होठों पर कठोर व्यंग्य था। वह मुस्करा रही थी।''[1] जैसे आज युग–युग का बाँध टूट गया था।

बार–बार सुबकते होठों में जाने कब का सूनापन, कब का दाह कब को अतृप्ति आज जार–जार पिघली जा रही थी। मानो छलिया। यही है तेरे जीवन की आसक्ति का रूप ? यही है तेरे स्नेह और सत्य का आधार ? तू कहाँ जा रहा है ? क्या तुझे–मुझे जला–जलाकर कुछ सुख मिल रहा है ? तू जानता है मैं अबला हूँ, तेरे सिवाय मेरा कोई नहीं। फिर इतनी निर्दयता क्यों ? लगता या जैसे उस रूदन का कहीं अंत नहीं है।''[2] पुरूष अथवा पति के सम्मुख अपने अबलापन को स्वीकार करना भारतीय नारी की एक दुर्नियति–सी हो गई है। ऐसी स्थिति में भी उसके पति में किसी भी प्रकार की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का न होना भी नारी का दुर्भाग्य ही है। जहाँ उमानाथ के प्रति पिता सहित सभी लोग उपेक्षा का व्यवहार करते हुए उसे निस्सहाय छोड़ देते हैं, तो महालक्ष्मी अपने सारे गहने बेचकर पति की सहायता करती है और प्रत्युत्तर में वह स्वंय उपेक्षित हो जाती है। बाद में उमानाथ पत्नि महालक्ष्मी को पहचानने की बात स्वीकार करते हुए, उसके सम्मुख जो तर्क प्रस्तुत करता है, वह महालक्ष्मी को द्वन्द्व की स्थिति में डाल देती है। एक ओर मस्तिष्क विद्रोह करना चाहता है, तो दूसरी ओर भावुक ह्रदय पति प्रेम को त्याग नहीं पाता है। उमानाथ का मानना है कि पत्नि का प्रेम सच्चा नहीं है, उसकी निष्ठा धर्म और परम्पराओं में अधिक है वह उमानाथ के स्थान पर किसी अन्य को भी पति के रूप में पाकर उसके साथ प्रेम निभा सकती थी। पति के ऐसे अर्थहीन शब्दों को सुनकर वह हथप्रभ–सी हो जाती है।

इस घटना क्रम से बहुत पहले ही स्वंय के प्रति कथित महालक्ष्मी के शब्द उसके आंतरिक द्वन्द्व और उसके संधातों को सहने की उसको विवषता को रेखांकित करते हैं, यथा–'' हायनारी। कितना गलित और दयनीय है तेरा जीवन। मुझे उसकी उपासना करनी है, जिसके तू सुख का साधन मात्र है। अच्छा होता तेरे पास न ह्रदय होता, न बुद्धि। फिर भी अपने को रि–रिस कर मिठाने में भी तू अपने महानता समझती है।''[1]

महालक्ष्मी अपने इस आंतरिक द्वन्द्व से मुक्ति पाने हेतु अपने व्यक्तित्व में वर्तमान ह्रदय–तत्व की प्रधानता के कारण ही जन–सेवा के मार्ग को अपनाती है, यदि उसे व्यक्तित्व में बौद्धिकता की प्रबलता होती, तो कदाचित वह किसी अन्य उच्छृंचल मार्ग पर चल पड़ती। जब उसे पति की ऋग्नावस्था के बारे में ज्ञात होता है, तो वह सारे मनः कलेषों को दूर कर उसकी सेवा के लिए पहुँचती है। पश्चातप्त पति उससे क्षमा माँगकर उसे द्वन्द्व मुक्त तो करता ही है, साथ–ही–साथ भौतिक जगत से विदा होते हुए महालक्ष्मी के लिए वैधव्य छोड़ जाता है।

प्रेम चन्द युगीन प्रतिष्ठित साहित्यकारों में आचार्य–चुतरसेन शास्त्री एक हैं, जिनके विषाल औपन्यासिक भंडार से यहाँ विष्लेषणार्थ दो उपन्यास '' धर्मपुत्र '' और बगुला के पंख लिये गये हैं।

पारिवारिक प्रतिष्ठा के लिए हुस्नबानू तीन पत्नियों वाले अधेड़ उम्र के वजीरआलीखान बहादुर से शादी करने के लिए तैय्यार हो जाती है, लेकिन वह अपने ह्रदय से अतीत के प्रेमी और उसकी स्मृतियों को मिटा नहीं पाती है। अपने इस प्रेम–प्रसंग के प्रति पूरी ईमानदारी के साथ वह डाक्टर से कहती है '' कैसे कर सकती है–जब कि मैं अपने – आपको किसी को दे चुकी, फिर कहीं कुछ तुक भी तो हो।''[1]

उक्त घटना के बाद डॉक्टर और उसकी पत्नि अरूणा, नवाब परिवार के साथ मसूरी चले जाते हैं। हुस्नबानू अपने नवजात षिषु को अरूणा के हाथों सौंप देती है। वह डॉक्टर दंपती से प्रार्थना करती है कि उसके बच्चे को भविष्य में कदापि उसकी असली माँ या बाप का नाम नहीं बताया जाय। उसका मातृ ह्रदय अपनी संतान की भावि मानसिक वितृष्णा और व्यथा की कल्पना मात्र से काँप उठता है। हुस्नबानू का लड़का डॉक्टर दंपती के बड़े लड़के के रूप में दिलीप कुमार राम के नाम से बढ़ने लगता है।

दिल्ली के बहुत बड़े रईस नवाब बज़ीर आलीखान के साथ हुस्नबानू की शादी हो जाती है। बजीर आली तीन पत्नियों वाला, अधेड़ और सनकी स्वभाव का है। शादी के बाद भी कई दिनों तक वह हुस्नबानू के महल में नहीं जाता है। कई दिनों की प्रतिक्षा के बाद हुस्नबानू के लिए पति–समागत की वह घड़ी आती है, लेकिन वजीर आली अपने सनकी व्यवहार और भाँड़े संगीत से हुस्नकी आषाओं पर पानी फेर देता है।

ऐसे पति के साथ जीवन काटने की सामाजिक विवषता एक ओर, तो अतीत के प्रेम की समृतियाँ दूसरी ओर–हुस्नबानू इन्हीं के द्वन्द्व में पड़ी विचारने लगती है '' तमाम जिंदगी इसी जाटिल, ,खब्ती आदमी के साथ बितानी है। जब यह आदमी साथ होगा तो अपनी हिमाकत और बेवकूफी से परेषान करेगा, और जब अकेले होऊँगी तो पुरानी यादें आ–आकर दिल कौंचेंगी। वाह, खूब जिन्दगी रही।''[1]

ब्जीर आली के रंग–महल में आने से पहले एक दिन जब वह अरूणा से मिलती है, तो उसका ह्रदय अपने बच्चे को देखने के लिए तड़प उठता है। वह उस अबोध–षिषु को अपने ह्रदय से लगाकर बिलक उठती है '' अरे मेरे लाल, अरे मेरे लख्ते जिगर ओ रे मेरे कलेजे के टुकड़े। अब तो तुझे अपनी माँ को देखने–पहचानने का भी हक नहीं है। या अल्लाह, यह भी कैसी दुनिया है। मगर खैर, तू सलामत रहे, लाख जंजीरों में बंधी रहकर भी तुझे देखती रहूँगी। अपनान कह सकूँगी, तो भी तू मेरा है, मेरा है, मेरा है ? इसके बाद हुस्नबानू रंगमहल में लौट जाती है।

हुस्नबानू को वज़ीर की दूसरी पत्नि जीनत से ज्ञात होता है कि उसका पति नामर्द और कोढ़ी है, तो वह तड़प उठती है। उसकी इस व्यथापूर्ण स्थिति में आठ वर्ष बीत जाते हैं और वज़ीर आली की मृत्यु हो जाती है। हुस्नबानू बूढ़े नवाब के पास कराची चली जाती है। लगभगबीस वर्ष के बाद जब वह डॉक्टर से मिलकर अपने दुःखद दांपत्य की कहानी सुनाती है, तो डॉक्टर पूछता है कि क्या उसे अपने पति क्रोध नहीं आया, तो वह उत्तर में कहती है '' गुस्सा ?

उन भूखी अछताती–पछताती चोर की तरह नजर छिपाती, गुनाह की तस्लीम करती हुई आँखों को देखकर भी भला कोई गुस्सा कर सकता है। पत्थर जरूर हूँ भाई जान, मगर औरत हूँ, यह भी तो सोचो।''[1] उसके कथन में पति की दयनीयता के प्रति असीम करूणा झलकती है। पति की मृत्यु से पहले ही हुस्नबानू में अंतर्द्वन्द्व शुरू हो जाता है। वह विचारती है कि प्रोफेसर हबीब को समर्पित होने और कुँवारी माँ बनने की बातें गुप्त रखकर उसने वज़ीर आली के साथ बड़ा छल किया है, लेकिन खानदानी आबरू के लिए यह सब कुछ करने के लिए वह विवष थी। जब उसे जीनत से पति की नामर्दानगी और रोग के बारे में मालूम होता है, तो सोचती है कि पति को छलने का उसको सही दंड मिला। वह जीनत से कहती भी है '' शुक्र है खुदा का, हाँ बहिन, मेरे गुनाहों की मुनासिब सज़ा यही मिल गई। अब शायद दोजख की आग से बन जाऊँ।''[2]

माँ बनकर मातृत्व और पत्नि बनकर पत्नित्व के सुखों से वंचित रह जाना ही हुस्नबानू के जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना रही । उसके अंतर्द्वन्द्व में खानदानी आबरू को महत्व देने वाले बुद्धित्व के साथ अपनी संतान को कुँवारी माँ के बच्चे होने के कलंक से मुक्त रखने के लिए उद्यत हृदयतत्व का पक्ष भी अत्यंत सबल है लेकिन अंत में जब करूणा, दिलीप को उसके जन्म रहस्य के बारे में बता देती है, तब हुस्नबानू और दिलीप की भेंट अत्यंत भाउक हो जाती हैं। अपने पुत्र से मिलने के बाद हुस्नबानू की द्विधामय–मानसिकता को शांति मिलती है। उपन्यास की एक अन्य प्रमुख नारी पात्री माया देवी है, जिसका अंतर्द्वन्द्व बड़े संक्षेप में ही वर्णित हुआ है।

कानपुर के राय राधाकृष्ण और कुमदेष्वरी दंपती की झकलौती संतान है–माया, जो विलायत में उच्च–षिक्षा पाकर लौटती है। पाष्चात्य सभ्यता में कुछ समय बिताने पर भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति माया में असीम श्रद्धा है, लेकिन संस्कृति के नाम पर प्रचलित अंध रूढ़ियों का विरोध करने की तर्कबुद्धि उसमें है। वह अत्यंत सुन्दर और सुषील है, जिसे अमृतराय और अरूणा अपने पुत्र दिलीप के लिए वधु बनाना चाहते हैं लेकिन दिलीप कटट्र हिन्दू सांप्रदायवादी होने के कारण विलायत मेंपड़ी माया से विवाह नहीं करना चाहता है। दिलीप के माता–पिता सोचते हैं कि शायद माया को देखने के बाद दिलीप के विचार बदल सकते हैं। इसी उददेष्य से वे रामकृष्णदास और माया को दिल्ली आने का निमंत्रण देते हैं परन्तु दिलीप के कठोर संकल्प के विवष होकर फिर से क्षमा याचना का पत्र प्रेषित करते हैं। इन विरोधाभासी पत्रों का राज समझने के लिए राय राधाकृष्ण और माया दिल्ली जाने का फैसला करते हैं। अमृतराय के दूसरे पत्र से माया घोर अपमान का अनुभव करती है। वह दिलीप के धर्म–दंभ को चूर करने का निष्चय कर विचारती है '' देखूँगी बाबू साहेब की फिलासफी। जरा व्यंग्य करूँ, जलाऊँगी, चिकोटी काटूँगी, सूई चुभाऊँगी। फिर उस तड़प का मज़ा लूँगी।''[1]

दिल्ली जाते समय कुमुदेष्वरी, बेटी माया को एक घड़ी सौंपकर उसे दिलीप को तोफे के रूप में देने के लिए कहती है। दिल्ली पहुँचने के बाद राय राधाकृष्ण से दिलीप स्पष्टतः कह देता है कि वह विदेषी सभ्यता का विरोधी है। पष्चिमी सभ्यता के प्रति राय राधाकृष्ण के परिवार के रूझान के कारण अपनी ही जाति में अलग–अलग कर दिये जाते है। दिलीप जब इस बात की ओर भी संकेत करता है, तो राधाकृष्ण और माया घोर अपमान का अनुभव करते हैं। माया अपनी माँ की दी हुई घड़ी दिलीप को देना चाहती है तो उसे वह जाल–साजी समझकर इनकार कर देता है और माया अपना प्रतिषोध जताते हुए कहती है '' मैं अपना काम कर चुकी। एक फालतू काममी ने झूठमूठ मेरे सिर मढ़ दिया। अब आपको रखना हो चाहिए–वापस करना हो, जाकर उन्हें वापस कर आइए, फेंक दीजिए या जो चाहे कीजिए। मैं तो इसे वापस नहीं ले जा सकती।''[1] इस प्रसंग में पहली बार माया को देखकर दिलीप चकित हो जाता है। सोता और सावित्री की जो परंपरावादिता पसंद करता है, उसकी आभा उसे माया में दीख पड़ती है लेकिन दिलीप की दुविधा यह है कि वह माया के प्रस्ताव को इनकार कर चुका है। इसी प्रसंग में दिलीप को पहली बार देखकर माया भी बहुत प्रभावित होती है। एक ओर उसका प्रेमिका हृदय दिलीप को चाहने लगता है, तो दूसरी ओर उसकी प्रतिक्रियावादी बुद्धि दिलीप के प्रति प्रतिषोधी भावना को भड़काने लगती है। लेखक के शब्दों में माया तो दिलीप से '' भाग आई, यह तो ठीक, पर अपने रक्त की प्रत्येक बूँद में दिलीप की यह मूर्ति भर लाई।

प्रेम और दर्द अब संग्राम करने लगे, और माया उनकी चपेट में घाव खाने लगी।''[2]

दो वर्षों के कालांतर के बाद दिल्ली में जातीय दंगे भड़क उठते हैं, जिन में दिलीप घायल हो जाता है। यह समाचार मिलते ही माया की दिलीप–प्रतिषोधी–भावना गहन संवेदन शीलता में परिणत हो जाती है और दिलीप भी अपने जन्म रहस्य के बारे में जानकर अपनी कट्टर सांप्रदायिक–भावना से मुक्त हो जाता है। अंततोमत्वा दो प्रेमी हृदय विवाह के शुभ–सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं।

उपन्यास''बगुला के पंख''की शारदा का अंतस्संघर्ष संक्षेप में वर्णित है डॉ. खन्ना की इकलौती पुत्री शारदा उच्च षिक्षिता, कला–कुषल, साहित्य–प्रेमी और परम्परा–प्रतिबद्धा है। इनके साथ–साथ उस में भावुकता, संकोच और सहानुभूतिकी भावनायें भी विद्यमान हैं। उसके संवादों में अधिकांषतः उसका हृदय–सारल्य ही स्वरित होता हैं। जब वह मुँषी जगन प्रसाद के प्रेमालायों के बहकावे में आ जाती है, तब स्वल्पकाल के लिए वह द्वन्द्व ग्रस्त हो जाती है। एक और नारी सहज प्रेम की माँग, तो दसूरी ओर परिवार तथा सामाजिकता का भय। लेखक के शब्दों में निस्सन्देह, उसे उस समय की जुगनू की हरकत और प्रणय–निवेदन असह्य–सा लगा था। परन्तु ज्यों–ज्यों वह उस घटना पर विचार करती गई, उसकी चेतना में यौवन का जागरण होता गया। उसके बाद बहुत बार अनुकूल–प्रतिकूल भाव आए और गए। जुगनू से मिलने की एक प्रच्छन्न अभिलाषा उसके मन में उदय होती गई – वह इस अभिलाषा को अपने शरीर की एक भूख के रूप में अनुभव कर रही थी।''[1]

उपन्यास के घटनाक्रम में शारदा स्वंयमेवा द्वन्द्व–मुक्त हो जाती है। इस प्रकार आचार्य जी ने पारिवेषिक–वैभिन्नता में नारी के अंतर्द्वन्द्व को स्वायित किया है।

उपन्यास की प्रमुख नारी पात्री कुन्ती सुषिक्षिता और सुगठित विचारों वाली है। विभिन्न विषयों पर अपने विचारों को पूर्ण सतर्कता के साथ प्रस्तुत करने में वह अत्यंत कुषल है। वैचारिक स्तर पर वह यह स्वीकार नहीं करती है कि वर–वधू की जन्म पत्रियों में मेल–मिलाप हो जाने मात्र से उनके मन भी एक हो सकते हैं। वह निषा से स्पष्ट शब्दों में कहती है '' मन मिल जाने के बाद जन्मपत्री मिलने में कितनी देरी गलती हैं।''[1] विवाह की ही भाँति आवष्यकता पड़ने पर संबंध–विच्छेद कर लेना नारी के आत्म सम्मान और अस्मिता के लिए वह अत्यंत आवष्यक मानती है, जो उसकी तर्कबुद्धि और उसके व्यक्तित्व पर पड़े पाष्चात्य वैचारिकता के प्रभाव को दर्षाती है। निषा से उसका कहना है '' मैं तो समझती हूँ कि मनोमालिन्य असह्य हो जाय तब किसी भी सवेरे एक व्यक्ति, दूसरे से कह दे–बस बहुत हो चुका, आगे हमारा–तुम्हारा मार्ग अलग–अलग रहेगा।

बिल्कुल मौलिक, अत्याचारी पति को पत्नि सवेरे शाम गिन–गिन कर इतने जूते लगाये कि वह संबंध–विच्छेद की लिखा–पढ़ी करने के लिए हा–हा खाता फिरे।''[1] उक्त कथन से नारी स्वाधीनता और उसके अधिकारों के प्रति कुन्ती की समझ का अनुमान लगाया जा सकता है। इन तथ्यों का अर्थ यह नहीं कि कुन्ती में नारी सहज प्रेम और भाउकता की कोई कमी है।

वह अचल को अपनी भावनाओं के अनुकूल जीवन साथी समझती है। अचल के प्रति उसका ह्रदय प्रेम–परिपूर्ण तो हो जाता है, लेकिन जन्मपत्रियों वाली परम्परा उसके बढ़ते चरणों में माता–पिता के विचारों के रूप में श्रंखला डाल देती है। वैचारिक स्तर पर इस परम्परा का दृढ़तापूर्वक विरोध करने वाली कुन्ती व्यावहारिकता के स्तर पर पराजित हो जाती है। उसका मन नहीं चाहता कि वह अपने माता–पिता के निर्णय को ठुकराकर उन्हें कष्ट पहुँचाये और उसका मस्तिष्क नहीं चाहता कि अर्थहीन परम्पराओं की वेदी पर उसके प्रेम की बलि चढ़ा दी जाये। निषा से कहे गये उसके शब्दों में उसका यह आंतरिक द्वन्द्व कुछ इस प्रकार ध्वनित होता है, '' मान लो अचल ने प्रणय की चर्चा मुझसे की और मैं सहमत हो गई। मान लो कि माता–पिता सहमत न हुए, तब या तो मुझ को पूर्ण विद्रोह कर डालना चाहिए या माता–पिता की राय पर चलकर संबंध की बात को दो–टूक तोड़ डालना चाहिए। तो ऐसी नौबत आने ही क्यों ही जाये।''[2] द्वन्द्व के इस नौबत से छुटकारा पाने के लिए कुन्ती को अपने मन के इषारे पर चलना पड़ता है, परिणामतः माता–पिता की इच्छा के अनुसार उसका विवाह सुधाकर से हो जाता है। दहेज का विरोधी और नारी स्वाधीनता का समर्थक सुधाकर से हो जाता है। दहेज का विरोधी और नारी स्वाधीनता का समर्थक सुधाकर कुन्ती के प्रति अपनी प्रेम भावना को अनेक रूपों में प्रकट करता है और दाम्पत्य जीवन के आरंभिक दिन दैहिक–तृष्णा की तृष्टि में अनायास कट जाते हैं, परन्तु जब इस नषे का दौर जब कम पड़ने लगता है।

तो पुनः कुन्ती में अतीत की वह आंतरिक द्विधा मचल उठती है। कुन्ती की दुविधा यह है कि पति सुधाकर ऐसा अत्याचारी भी नहीं कि उसे प्रतिदिन जूते मार–मारकर उससे संबंध विच्छेद कर लिया जाये। कुछ सीमा तक पत्नि की स्वाधीनता को स्वीकार करने वाला सुधाकर कुन्ती का नृत्य–गान सीखने के बहाने अचल के यहाँ घण्टों बिताना पसंद नहीं करता है। लेखक के शब्दों में जो कुछ कुन्ती चाहती थी उसको सुधाकर नहीं दे पा रहा था और जो कुछ सुधाकर चाहता था उसको शायद कुन्ती समझ नहीं पा रही थी।''[1] सुधाकर में ऐसी मानसिक दुर्बलता भी नहीं कि वह अपनी पत्नि के चरित्र पर शंका का प्रष्न–चिह्न लगा सके। दूसरी ओर कुन्ती का आंतरिक विद्रोह उसकी व्यावहारिक तर्क शक्ति को नष्ट कर देता है। माता–पिता की इच्छाओं के सम्मुख झुक जाने वाला कुन्ती का ह्रदय, विवाह के उपरांत पति के साथ वैसा ही समझौता करने के लिए तैय्यार नहीं होता, जबकि उसे अपने शेष–जीवन का अधिकांष भाग बूढ़े माता–पिता के साथ नहीं, प्रत्युत जवान पति के साथ बिताना है। इस बिन्दु पर कुन्ती की बौद्धिकता को कुंठित ही माननी चाहिए। यदि वह माता–पिता को ठुकराकर अचल से विवाह कर लेती, तो उसका दांपत्य जीवन सुखी हो जाता, ऐसी बात की भी कोई गारंटी नहीं है क्योंकि वैसी स्थिति में कदाचित उसका ह्रदय माता–पिता के प्रति सहानुभूति से भर जाता और अचल के साथ विवाह करने के लिए प्रेरित करने वाले मस्तिषक के प्रति अपने विद्रोह का झंडा फहरा देता और अचल के साथ भी उसका दांपत्य–जीवन सुखमय नहीं हो पाता।

ऐसी आंतरिक दुविधा उन नारयिों में पायी जाती है, जिनके व्यक्तित्व में ह्रदय–तत्व और बुद्धि–तत्व का स्तर लग–भग समान हो और ऐसी नारियों के जीवन में किसी भी बिन्दु पर सुख और शांति लक्षित नहीं होते हैं। इतना ही नहीं यह आंतरिक द्वन्द्व जब असह्य हो जाता है, तब उसकी परिणति कुन्ती के जीवन की ही भाँति आत्मघात में समापित होता है।

हलद्वीप की श्रंखला राज–सभा के नर्तकी और नगरणी है, जो बड़ी विदुधि, कला–मर्मज्ञा और बड़ी भावुक–ह्रदया है। उसके अपार सौन्दर्य के कारण उसक पर थोंपी गयी नगर–श्री उपाधि उसके जीवन की एक विडम्बना ही है। समूचे हलद्वीप में ही नहीं, बल्कि दूर प्रान्तों तक उसका यष फैल जाता है, जिससे उसमें एक अहंवृत्ति विकसित हो जाती है। वह समस्त पुरूष जाति को भोंडी और मांस भुक्कड़ समझने लगती है। उसका अहंवादी आत्मविष्वास यहाँ तक सोचने लगता है कि अब कोई भी ऐसा पुरूष नहीं रह गया है, जो कि उसके कटाक्षमात्र से परास्त न हो और इस संदर्भ में राज–सभा विद्वन्मणि देवरात भी कोई अपवाद नहीं है।

एक बार राज–सभा में देवरात एक विप्रलंब श्रंगार–रसपूर्ण कविता का गान करते हैं, तो राज दरबार के अन्य सभी सदस्यों की अपेक्षा मंजुला ही अत्यधिक प्रभावित होती है '' उसे लगा कि व्यर्थ में उद्वत अभिमान के कारण वह अब तक इस एक मात्र सहृदय पुरूष की उपेक्षा करती रही है। उसका अंतर इस प्रकार द्रवित हो उठा जैसे दीर्घकाल से जमा हुआ हिम एकाएक उष्ण वायु के स्पर्ष से पिघल गया हो।

चन्द्रा :

'' पुनर्नवा '' के नारी–पात्रों में चन्द्रा का अत्यंत विलक्षण और अनुपम स्थान है। स्पष्टवादिता, अपने अधिकरों हेतु संघर्ष करने की प्रतिबद्धता, अन्धरूढ़ियों के प्रति विद्रोही चेतना जैसे तत्व, जिन्हें हम आधुनिकता का प्रतीक मान रहे हैं, वे सभी चन्द्रा के व्यक्तित्व में भरे पड़े हैं। ऐसे दृढ़ संकल्पवादी चन्द्रा के अंतस में द्वन्द्व की संभावना ही आष्चर्यजनक प्रतीत होती है। ध्यातव्य है कि चन्द्रा का अंतर्द्वन्द्व उपन्यास में इतने संक्षिप्त और प्रच्छन्न रूप में वर्णित हुआ है कि वह संदर्भ द्वन्द्व–सा प्रतीत ही नहीं होता है। उस संदर्भ के उल्लेख और विष्लेषण से पूर्व चन्द्रा के जीवन क्रम पर संक्षेप में प्रकाष डालना आवष्यक है।

www.ignited.in

महामारी के भयंकर प्रकोप के कारण चन्द्रा को अल्पायु में ही मातृ–वियोग सहना पड़ता है। यव्वनागम से पूर्व ही चन्द्रा, गोपाल आर्यक को देखकर उसके पौरूषपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हो, उसे मन में ही अपना पति मान बैठती है, लेकिन चन्द्रा का पिता लोभवष उसका विवाह श्री चन्द्र से कर देता है। विवाह के उपरांत चन्द्रा को पति के नपुंसकत्व का बोध होता है और उसका ह्रदय ऐसे व्यक्ति के साथ समझौता करने से विद्रोह कर बैठता है। वह अपनी उददाम यौव्वनेच्छा की तृप्ति हेतु गोपाल आर्थक के पीछे पड़ जाती है। चन्द्रा का यह व्यवहार उसके लिए कुलटा, पतिता जैसी नयी संज्ञायें ला देता है लेकिन ध्यातव्य है कि '' काम और यौन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण बदलता रहा है।

प्रथमतः चन्द्रा यह समझती है कि मृणाल मंजूरी मात्र शिष्ठाचार की दृष्टि से उसके प्रति प्रेम दर्षा रही है लेकिन वह जब मृणाल मंजूरी को अमात्य से यह कहते सुनती है कि चन्द्रा और आर्यक का विषय उनके अपनी निजी जीवन का विषय है, जिसमें किसी ओर को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है तो चन्द्रा का ह्रदय पसीज जाता है। उसके ह्रदय में रहा–सहा सदेह भी समाप्त हो जाता है। वह सहज नारी मानसिकता के धरातल पर स्वंय को अत्यंतप्रसन्न पाती है। उसे ज्ञात होता है कि लेने की अपेक्षा देने में ही असीम सुख निहित है। वह मृणाल मंजूरी से कहती है मैं आर्यक के लिए सब–कुछ सहने को तैयार हूँ केवल तेरे मन में कोई अन्यथा भाव नहीं आना चाहिए। मैं उस पर अधिकार नहीं चाहती। वह तेरा है और तेरा ही बना रहेगा।''[2]

अधेड़ उम्र की अविवाहिता शीला पैषे से डॉक्टर है, जो नारी के प्रजनन संबंधी पीड़ा से परिचित है। वह नारी की इस प्रसूति वेदना को नारी की हीनता का प्रतीक मानती है इसीलिए कदाचित वह विवाह से नफ्रत करती है। विवाह–षून्यता की स्थिति में नारी और पुरूष के मध्य बनने वाले सहज प्रेम संबंध को ही वहवांछित मानती है। उसकी धारणा है कि विवाह–षून्यता की स्थिति ही नर–नारी संबंधों को असामान्य से सामान्य बना सकती है। शीला कहती है शादी का रिवाज इंसानों में धोखा–धड़ी, झूठ और अत्याचारों को जमाता है। इसे हटा दीजिए, औरतों को आर्थिक रूप से आजाद कर दीजिए, फिर देखिए, औरत–मर्द के रिष्ते कितने जल्दी नार्मल हो जायेंगे।''[2] इन शब्दों के माध्यम उसके चरित्रगत बुद्धितत्व का उद्घाटन तो होता ही है।

परन्तु उसमें हृदय–तत्व को प्रतिबिंबित करने वाले चारित्रियक अंषों की कमी नहीं है। जिस्मानी संबंध, जो आधुनिक सभ्यता और मस्तिष्क पक्ष के सषक्त तत्व है, की अपेक्षा शीला रूहानी संबंधी, जो नारी सहज प्रेम का प्रतीक है, को ही विषिष्ठ मानती है। यह उसकी एक निष्ठ–प्रेम भावना का प्रतीक है। उसका मस्तिष्क वैवाहिक संबंध का विरोध तो करता है परन्तु उसका हृदय–तत्व उसकी इस धारणा को नकार देता है। शीला की त्रासदी यह है कि वह अविवाहिता रहते हुए विवाहित महीपाल के साथ अफलातूनी प्रेम संबंध को स्थापित कर उन समस्त सामाजिक सुविधाओं कोपा जाना चाहती है, जो कि भारतीय समाज में एक पत्नि को प्राप्त हैं, परन्तु उसकी यह इच्छा अपूर्ण ही रह जाती है, क्यांकि इस अत्यंत आधुनिक भारतीय समाज में भी अभी तक ऐसी मानसिकता उन्मीलित नहीं हुई है, जो कि एक विवाहित पुरूष और एक अधेड़ उम्र की अविवाहित स्त्री के पारस्परिक संबंध को विषुद्ध प्रेम मात्र मानते हुए सामाजिक संबंधों के धरातल पर उस प्रेम को नैतिकता का प्रमाण–पत्र दे सके चाहे उस प्रेम में वासना के लिए स्त्री भर भी जगह न हो। इस तथ्य से परिचित होने के कारण ही शीला अपने और महीपाल के संबंध को स्वस्थ तो नहीं मानती है, परन्तु अनैतिक भी नहीं, यदि शीला की प्रवृत्ति में भोगवादिता अथवा अतृप्तवासना का ही प्राधान्य होता, तो अंत तक वह महीपाल से ही बंधे न रहकर भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास '' रेखा '' में रेखा प्रभाषंकर की भाँति दैहिक धरातल पर अनेक पुरूषों से संबंध स्थापित कर लेती।

उसके अंतर्द्वन्द्व की स्थिति उपन्यासकार के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है, शीला महीपाल से प्रेम की माँग करती है, पतित्व की नहीं, वह महीपाल को उसकी पत्नि के संदर्भ में ही देखती–स्वीकारती है। महीपाल की पत्नि कल्याणी के प्रति उसका सद्भाव भी है लेकिन कल्याणी के कहने पर या लोकनिन्दा होने पर वह महीपाल को छोड़ नहीं सकती।''[1] परम्परागत संस्कारों की अवहेलना और अतिक्रमण कराने वाली पूँजीवादी प्रवृत्ति के कारण डॉ. शीला वैवाहिक संस्था की उपेक्षा कड़े शब्दों में करती तो है, परन्तु दूसरे ही संदर्भ में वह इस संस्था के महत्व को स्वीकार भी करती है, क्योंकि विवाह ही एक ऐसी व्यवस्था है जो स्त्री और पुरूष के विषुद्ध प्रेम को स्थायित्व और सामाजिक–आस्था प्रदान करता है। शीला कहती है–'' विवाह से ही इन्सान को अपने प्रिय को सदा अपने पास, अपने घर में, अपने कलेजे में छिपाकर रख सकने का लाईसेंस मिल जाता है। कोई उंगली उठाकर यह नहीं कह सकता कि यह तुम्हारा नहीं है, कानूनन तुम्हारा नहीं है।''[1]

उपन्यास में शीला और महीपाल का संबंध कुछ विचित्र–सा ही है, क्योंकि शीला के संदर्भ में वह अविवाहिता नारी के असामाजिक अथवा अनैतिक संबंध की कोटि में आता है, तो महीपाल के संदर्भ में उसकी गणना पुरूष के विवाहेतर संबंधों की कोटि में। एक अन्य संदर्भ में महीपाल से शीला का कथन उसकी आंतरिक विवषता को अनायास ही अभिव्यक्त करता है, यथा '' बहुत से ऐसे होते हैं जो बगैर सोचे समझे जिस बंधन को मान लेते हैं उसी में सदा के लिए बंध जाते हैं, जो बगैर सोचे समझे जिस बंधन को मान लेते हैं उसी में सदा के लिए बंध जाते हैं, तुम्हारी वाईफ भी ऐसी है। मगर हम जो जिन्दगी को खुद अपने विचारों की कसौटी पर पाने के आदी हैं वे बुरे क्यों हैं ? उससे छोटे क्यों हैं जिन्हें मॉरल्स का गुलाम होने की वजह से शुरू से ही एक निष्ठा में बंध जाने की आदत होती है।''[2] महीपाल के साथ स्थापित संबंध के प्रति किसी सामाजिक लांछन अथवा विरोध की संभावनीयता की परिकल्पना से उत्पन्न आतंकित मानसिकता से त्रस्त डॉ. शीला अपनी तर्क बुद्धि के सहारे अपने उस संबंध को आधुनिक सभ्यता के दायरे में प्रामाणिक सिद्ध करने के उपक्रम में ये बातें कहती है। इस प्रकार प्रेम और विवाह के संबंधों से जूझती शीला के उक्त सभी वक्तव्य उसके अंतर्द्वन्द्व को ही रेखांकित करते हैं।

भारतीय समाज में एक समय प्रचलित अत्यंत घृणास्पद परम्पराओं में एक मनुष्य द्वारा दूसरे के मैले को सर पर ढोने की परम्परा है। एक समय में इसलिए कहा गया है क्योंकि कि हाल ही में केन्द्र सरकार द्वारा इस अमानुधिक परंपरा को समाप्त कर देने का कानून पारित कर दिया गया है। स्वतंत्रता पूर्ववर्ती और परवर्ती समाज में दीर्घ काल तक प्रचलित इस अमानवीय परम्परा की पृष्ठ भूमि पर प्रणीत अमृतलाल नागर का एक अन्यतम उपन्यास '' नाच्यौ बहुत गोपाल '' है। जो सन् 1978 ई. में प्रकाषित हुआ। लेखक ने कथा प्रवाह के माध्यम चरित्रों की प्रतिक्रियाओं और संवादों को ऐसे यथार्थ के ढाँचे में डालकर प्रस्तुत किया है जिससे स्वंयमेव यह तथ्य उद्घाटित हो

जाता है कि दीर्घकाल से हरिजनों द्वारा अपनाई जा रही यह वृत्ति समाज पर सामंतवादी आभिजात्यता का प्रतीक मात्र है। इस व्यवसाय की निकृष्ठता से परिचित होते हुए भी एक नारी को क्यों इसे अपनाना पड़ा और उस ओढ़ी हुई निकृष्ट सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य में वह किस प्रकार द्वन्द्व ग्रस्त हुई, इसी का विषद चित्रण लेखक ने पूरे संदर्भ के साथ उपन्यास में उभारा है।

निर्गुणिया के आंतरिक द्वन्द्व में उक्त तथ्य के साथ–साथ समाजगत जातीयता संबंधी भेद–भावनाओं का भी योगदान लक्षित होता है। काम तृप्ति के साथ निर्गुणिया सतीत्व और मातृत्व के दाइत्वों को निभाना चाहती है जिसके लिए उसका हृदय तत्पर रहता है, परन्तु सास सुबरातन मेहतरानी की मार, डेविड, और फकीर बाबा जैसों के मेहतरानी संबोधन उसके मस्तिष्क को झिंझोड़कर रख देते हैं और ऐसी स्थिति में हृदय और मस्तिष्क के संतुलन को व्यक्तित्व में समन्वित कर पाना उसके लिए असंभव–सा हो जाता है। उसका हृदय कहता '' जिस दिन से मैं मन से मेहतर बन गयी उसी दिन से नफरत पूरे–पूरे प्यार में बदल गयी।''[1] लेकिन उसका सतर्क मस्तिष्क तुरंत ही तीखा प्रष्न करता '' वह कितने श्रेष्ठ कुल में जन्मी, पली और पनपी । जहाँ पाखाने के दरवाजे को धोखे से छूने पर भी उसे नहाना पड़ता था और सारे कपड़े धोने पड़ते थे। ऐसी अस्पृष्य वस्तु को वह क्यों कर अपने हाथों से स्पर्ष कर सकेगी ?''[2] और मन–मस्तिष्क के इस आंतरिक द्वन्द्व से ग्रसितनिर्गुणिया का मतृ–हृदय यूँ तड़प उठता है '' ब्राहमणी ने द्राविड़ी प्राणायाम करके भी अंत में मेहतरानी की नाक पकड़ी। ब्राहमणी। ब्राहमणी !! क्यों गूँजता है यह शब्द ? उसे क्या अधिकार है ? श्रेष्ठ कौन है ब्राहमणी या सती ? मन ने मानो अपनी ही गाल पर तड़ातड़ तमाचे मारे।''[3]

दिल्ली की चाँदनी–चौक में निवास करने वाले सुसंपन्न हीराचन्द कपूर के परिवार में एक अनूठी परम्परा प्रचलित है। इस परम्परा के अनुसार उस परिवार में पति अपनी को हरिद्वार में किसी पंडित–पुजारी को दान में दे–देता है और बाद में यथाषक्ति दान का मूल्य चुकाकर पत्नि को पुनः प्राप्त करता है। इसी परम्परा को निभाने के लिए हीराचन्दा का भाई सूरज कपूर अपनी पत्नि ब्रजरानी को हरिद्वार में महावीर पंडा को दान में दे–देता है परन्तु ब्रजरानी के अनुपम सौन्दर्य से विमोहित पंडा किसी भी मूल्य पर ब्रजरानी को त्यागने के लिए तैयार नहीं होता। सूरज कपूर की धार्मिक–कायरता को भाँपते हुए महावीर कहता है कि वह चाहे तो बिना मूल्य के ही ब्रजरानी को छोड़ सकता है, लेकिन धर्म के प्रति अंथ–श्रद्धा रखनेवाला सूरज कपूर पत्नि को महावीर पांडे के पास ही छोड़ देने का निष्चय करता है। पति की इस कायरता के प्रति अपने मस्तिष्क की विद्रोही चेतना को स्वर देते हुए ब्रजरानी कहती है '' अगर धर्म तोड़ने का साहस है, तो मुझे निर्भय होकर वापस ले चलो। मैंने दिल्ली से चलते हुए क्या कहा था ? वह दान झूठ है। अंधविष्वास है। इस अधर्म के खिलाफ हर इंसान को उठ पड़ना चाहिए।''[1]

महावीर पांडे के महल में पड़े डाके के समय डाकुओं का सरदार ब्रजरानी को अपने साथ उठा ले जाता है। अपने प्रति सरदार के सदुव्यवहार से प्रभावित ब्रजरानी उसे अपना सर्वस्व समर्पन करना चाहती है परन्तु सरदार उसे मुक्त कर देता है। पांडे के प्रति समर्पिता ब्रजरानी उसी के पास लौट आती है। पांडे भी मृत्यु से पूर्व अपनी सारी संपत्ती ब्रजरानी के नाम कर देता है। पांडे की मृत्यु पर ब्रजरानी ऐसे फूट–फूटकर रोती है, मानो वह उसका विवाहित पति है।

उपन्यास में ब्रजरानी की दषा अत्यंत दयनीय है। धार्मिक अंधरूढ़ियों के कारण पति से तिरस्कृत होती है, पांडे की संभोग्या बनने से पूर्व उससे प्रपीड़ित भी होती है और भीषनतम अंतर्द्वन्द्व से गुजरती है। स्वल्प–काल के लिए ही उसे डाकू–सरदार की सहृदयता प्राप्त होती है। पति के प्रति प्रतिषोध जताने की बौद्धिक प्रेरणा से पांडे की संभोग्या बनकर भी ब्रजरानी न द्वन्द्व मुक्त होती है न ही जीवन को सार्थकता अथवा स्थायित्व प्रदान कर पाती है। अंतर्द्वन्द्व के उस असहनीय तनाव से मुक्ति को अपने आत्मघात में ही मानकर ब्रजरानी गंगा में डूब जाती है।

जिन धार्मिक परम्पराओं को बौद्धिकता का सामाजिक प्रतिफलन माना गया है, उनके भारी बोझ के तले दब जाने वाला विषुद्ध प्रेमापेक्षी हृदय अपनी छट–पटाहट से मुक्ति के लिए पुनः बौद्धिकता के ही शरण जाकर अंततः अपनी अस्मिता को भी मिटा देने के लिए विवष हुआ है। इसी तथ्य की जुबानी है, ब्रजरानी की कहानी।

श्यामा की आंतरिक उलझन का एक और कारण उसके द्वारा अपने अतीत के वैवाहिक संबंध को यथार्थता के संदर्भ में विष्लेषण न कर पाना ही है, जिसकी पृष्ठभूमि में राजीव के साथ के विफल प्रेम और अनपेक्षित देव के साथ सूत्रबद्ध होने से संबंधित मानसिकताओं की प्रतिक्रियायें लक्षित होती हैं। अपनी इस उलझन को व्यक्त करते हुए श्यामा कहती है '' अपनी जिंदगी का कुछ डेढ़ साल मैंने उस आदमी के साथ बिताया था लेकिन आज भी मैं उसके साथ अपने संबंध को ठीक–ठीक नहीं समझ पाती। वह मेरे लिए बहुत अजनवी है या बहुत अपना, इस विषय में मुझे अपने अंदर अलग–अलग प्रितिक्रियाएँ मिलती हैं।''[1]

जन्म की घड़ी से लेकर असफल वैवाहिक जीवन में सब से विलय होकर एक ओर सर्वदा अप्राप्त आत्मीयता के लिए तड़पती, तो दूसरी ओर अतृप्त इच्छाओं के बोझ को ढोती एक अभिषप्ता की द्वन्द्वग्रस्त व्यथा–कथा ही इरावती की आत्म–कथा है, जो डॉ. देवराज के उपन्यास '' दोहरी आग की लपट '' के रूप में प्रणीत है। आरम्भ में एक सामान्य भारतीय नारी की भाँति इरावती का प्रेमापेक्षी होना, परन्तु पारस्परिक प्रेमाभिव्यक्ति के लिए दैहिक धरातल को तिरस्कारना उसकी हृदयपक्षीय मान्यतायें है और विवाहोपरांत ही दैहिक इच्छापूर्ति की कामना करने के रूप में सामाजिक परम्पराओं के प्रति निष्ठा रखना उसकी बौद्धिक मान्यता। विवाह से पूर्व चारित्रियक पतन से स्वंय को सुरक्षित रखने के संदर्भ में इरावती में इन दोनों तत्वों में सामंजस्य स्थापित कर सकने की अदम्य आत्मिक शक्ति लक्षित होती है।

इसी के कारण वह कॉलेज के दिनों में मनोज के प्रति अपने भावनात्मक–प्रेम को दैहिक सतह पर गिरने और पतिता के रूप में लांछित होने से स्वंय की रक्षा कर पाती है।

एक सामान्य मध्यवर्गीय कन्या की ही भाँति इरा भी अपने वैवाहिक जीवन को लेकर इन्द्रयनुसी कल्पनायें करती है, लेकिन पति के रूप में उसे जो सुरेन्द्र मिलता है, वह वही आदिम भोगवादी–प्रवृत्तीवाला पुरूष ही सिद्ध होता है, जिसकी दृष्टि में पत्नि देहमात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पति के पाषविक व्यवहार और अपनी भावनाओं की उपेक्षा से इरा टूट–सी जाती है। इसका एक और प्रमुख कारण उसकी जन्मजात आत्महीन भावना है, क्योंकि जब परिवार में दो पुत्रियों के उपरांत तभी परिवार–जन पुत्र की अपेक्षा कर रहे थे, तब इरा का जन्म हुआ इसलिए बचपन से ही आत्मीयता से उपेक्षिता इरा हृदय में आत्महीन–भावना पालने के लिए विवष होती है। पति से उपेक्षित और अपमानित इरा का हृदय तर्काश्रित होकर मुक्ति की राह देखने लगता है। इस बिन्दु पर पहुँचकर इरावती भी कृष्णा अग्निहोत्री के उपन्यास '' बात एक औरत की भी कामना–सी

www.ignited.in

प्रतीत होने लगती है, क्योंकि उस उपन्यास का संजय इरा के पति सुरेन्द्र का कार्बन–कॉपी ही है इसलिए वहाँ कामना की भाँति यहाँ इरा के लिए भी द्वन्द्व अनिवार्य हो गया है, इतना ही नहीं द्वन्द्व संबंधी समान स्थितियों के कारण इरा और कामना दोनों की प्रतिक्रिया लग–भग एक जैसी है नारियाँ चाहे दो हो या अनेक, परन्तु हृदय–तत्व तो एक ही होता है। जिस उपेक्षा और पाषविक–प्रवृत्ती से इरा और कामना त्रस्त हैं, उन्हीं तत्वों को अपने शस्त्र बनाकर पुनः उन्हीं तत्वों को विनष्ट कर डालने का विलक्षण प्रयोग करती हैं। यहाँ से प्राणत्राण के लिए उसी सर्प–विष को औषदी के रूप में प्रयोग में लाये जाने के चिकित्सा शास्त्र का तथ्य तथा न्यूटन के गुरूत्वाकर्षण संबंधी तीसरे सूत्र का स्मरण अनायास हो आते हैं।

परिवर्तित जीवन–शैली में मिसफिट मानसिकता के कारण उत्पन्न अंतर्द्वन्द्व की समस्या का परिष्कार आधुनिकता के धरातल पर कर सकने में विफल नारी–चरित्र को राजेन्द्र यादव ने अपने उपन्यास '' कुलटा '' में रूपायित किया है।

उपन्यास '' कुलटा '' की मिसेज तेजपाल अपने विवाह से पूर्व एक सामान्य और परम्परागत भारतीय नारी मानसिकता को आत्मसात किये रहती है। संगीत और साहित्य के प्रति उसकी रूचि तथा दांपत्य–जीवन संबंधी उसकी परिकल्पनायें इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। कलनल तेजपाल को पति के रूप में पाते ही उसकी समस्त आषायें धराषायी हो जाती हैं। जिस मातृत्व को पाने मात्र से ही अपने जीवन को एक भारतीय नारी धन्य समझती है, उस मातृत्व पद को भी मिसेज तेजपाल नहीं प्राप्त कर पाती है। मातृत्व के लिए तड़पता उसका हृदय पड़ोस की छोटी बच्ची गुड्डी के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त कर तुष्ट होने का प्रयास करता है। एक वायोलिन विद्वान में अपनी भटकी हुई प्रेमानुभूति को वह ढूँड़ती है, परन्तु उसे व्यावहारिकता का रूप प्रदान करने से पहले ही उस संगीत का तबादला करवा दिया जाता है। घोर बौद्धिकता और भोगवादी वातावरण में रहने के लिए विवष मिसेज तेजपाल उसी बौद्धिकता के संबल पति से प्रतिषोध लेना चाहती है।

पति के पसंदीदा अपने लंबे बालों को वह कटवा डालती है और भड़कीले वस्त्र पहनकर घूमने में आनंदित होती है। अपने व्यक्तित्व पर आधुनिकता के कृत्रिम आवरण को डालकर भी मिसेज तेजपाल न अपने अंतर्द्वन्द्व से ही मुक्त हो पाती है, न ही पति की बर्बरता से प्रतिषोध ही ले पाती है। अपनी अषाओं और अनुभवों के संघर्ष में विफल जीवन के बोझ को ढोने और चरित्र पर '' कुलटा '' का लेखन चिपकवाने के लिए विवष मिसेज तेजपाल पति के जीवन से दिषा हीनता में प्रस्थान करती है।

वसुधा की स्थिति कुछ–कुछ उषा प्रियंवदा के उपन्यास '' पप्पन खंखे लाल दीवारे की सुसुमा की स्थिति जैसी ही है। अंतर इतना लक्षित होता है कि सुष्मा एकांतवास के लिए अभिज्ञप्त–सी रह जाती है, जब कि '' छाया मत छूना मन '' में वसुधा की चारित्रिक इति मृत्यु में होती है। वसुधा का चारित्रियक पतन स्थिति के अनुरूप अनिवार्य है, जब कि सुष्मा का नीलकांत के प्रति समर्पन ऐच्छिक है।

महानगरीय परिवेष में जीवन संबंधी बाहरी संघर्षों के कारण उत्पन्न आंतरिक विडम्बनाओं और भावनाओं के संघर्ष की स्थितियों को कथावस्तु के रूप में लेकर लिखा गया मुद्रा राक्षस का उपन्यास '' अचलाः एक मनः स्थिति '' आठवें दषक के उपन्यासों में उल्लेखनीय है। इस उपन्यास में पूँजीवादी और अक्सर वादी पुरूष–प्रवृत्तियों के मध्य डोलने के लिए विवष एक आधुनिका की मनःस्थिति चित्रित है, परन्तु उस नारी अचला की मनःस्थिति में निहित भावात्मकता आधुनिक विकृत मानसिकता के तले ऐसे दब गयी है कि उसके चरित्र में उच्छृंखलता का पुट ही अधिक उभर पाया है।

संजय और धनराज के मध्य बंटने के लिए विवष अचला संजय को अपने व्यक्तित्व की भावात्मक प्रेरणा के प्रतिक्रिया स्वरूप पति के रूप में स्वीकारती है लेकिन दांपत्य स्तर पर वह उससे अतृप्त ही रहती है इसलिए धनराज के प्रति उसके रूझान सहज हो जाता है। अचला के चरित्र में एक अंतर–विरोध यह भी लक्षित होता है कि वह स्वयमेव धनराज की ओर आकृष्ठ है, लेकिन जब संजय अपने कारखाने के कर्मचारियों के हड़ताल पर धनराज के पिता द्वार एंक्वायरी करवाये जाने के संदर्भ में प्रतिवेदन को प्रभावित करने के लिए अचला को धनराज के पास भेजना चाहता है, तब अचला अपना क्रोध जाहिर करती है, कदाचित धनराज के प्रति उसके समर्पण की पृष्ठभूमि में निहित पति की कायर और पूँजीवादी प्रवृत्ती के विरोध में ही अचला का क्रोध उमड़ा है, न कि इस संबंध के बारे में पति के प्रत्यक्ष उद्घाटन को लेकर पति पर आन पड़ी हुई समस्या को टालने के लिए जब वह धनराज के कमरे में जाती है, तब उसके व्यथापूर्ण शब्दों में उसके अंतर्द्वन्द्व का संकेत मिलता है, '' बहुत दिन नाराज रहे हो कि तुम्हारी बात नहीं मानती। तुम्हारा कर्ज चढ़ा हुआ है।''[1]

कैरियर बनाने का मोह अथवा महत्वाकांक्षाओं को साकार करने का भ्रामक आकर्षण वर्तमान में आधुनिकाओं की एक मानसिक दुर्बलता–सी प्रतीत हो रही है। इसे महज–दुर्बलता की संज्ञा देने का कारण यह है कि वर्तमान आयुनिक नारी अपने व्यक्तिगत जीवनोलयन के उपक्रम में अपने समस्त सहज पारिवारिक सुखों और संवेदनाओं को होम करती जा रही है, और जब उसे एकान्त में आत्मालोचन करना पड़ता है, त बवह निर्विवादतः पश्चात्ताप का अनुभव भी करती है। अपने अतीत की स्मृतियों से जनित इस पश्चात्ताप को एक आधुनिका अपने आंतरिक संघर्ष की प्रतिक्रिया ही मान सकती है।

चुनाव में भाग लेने हेतु पार्टी–टिकेट पाने की इच्छा से बड़ा भाई अतित जब रंजना को सिन्हा के पास सिफारिष करने जाने को कहता है और बड़े ईमानदार, निष्ठावान, अनुषासन–बुद्ध माने जानेवाले पिता भी उसका समर्थन करते हैं तब रंजना को बड़ी हैरानी होती है। उसका हृदय इसका तीव्र विरोध करना चाहते हुए भी परिवार के बुद्धि–वादि – दबाव के सम्मुख पस्त पड़ जाता है। उसे ऐसा महसूस होता है कि इस वर्ग–समाज में वह एकदम अनफिट है, पर फिट होना पड़ेगा।''[1] सिन्हा के घर में एकत्रित लोगों में हुई नैतिकता संबंध खोखली चर्चा और शराब के नषे में किये गये उनके फूहड़ व्यवहार रंजना में भौतिकवादिता के प्रतिघोर वितृष्णा उत्पन्न कर देती है। उसका हृदय देवेन के प्यार के लिए तड़पने लगता है परन्तु उसके मन में यही शंका उछलने लगती है कि क्या भारत सुन्दरी बनी रंजना को देवेन स्वीकार सकता है ? देवेन तो एक नारी को उसके संपूर्ण नारीत्व के साथ देखना चाहता है, लेकिन पारिवारिक दबाव और एक नयी अस्मिता की प्राप्ति के भ्रम में रंजना जिस बिंदु पर आज खड़ी है, क्या वहाँ से तिरोहित हुआ जा सकता है ? इसी संघर्ष में वह विचारती है '' औरत में

औरत होना ही काफी रहता है। वैसा हो नहीं पाया। वह हो गयी है औरत में भारत–सुन्दरी। या भारत–सुन्दरी में औरत ?''[2]

पिता और भाई अपने–अपने स्वार्थ के लिए रंजना को एक मोहर बनाकर उसका विवाह सिन्हा के भाई गोपाल के साथ निष्चित कर देते हैं, तो रंजना को अपने भविष्य का स्पष्ट चित्र दिख पड़ जाता है।

वह विचारती है कि यदि वह इस समय अपने साहस का परिचय नहीं दे पायी, तो उसे जीवन पर्यत उसी आंतरिक संघर्ष से झूझते रहना पड़ेगा, जिसे उसका कोमल हृदय सह नहीं सकेगा। सुषिक्षिता और व्यवहार कुषल रंजना दूसरे दिन समाचार पत्रों में यह वक्तव्य शीघ्र ही होने वाला है।

परिशिष्ट –

1. सुखदा – जैनेन्द्र कुमार – पूर्वोदय, नयी दिल्ली – सं. 1975

2. मेरी, तेरी उसकी बात – यशपाल – सं. 1975

3. वे दिन – निर्मल वर्मा – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली – 1976

4. कल्याणी – जैनेन्द्र कुमार – पूर्वोदय प्रकाशन, नयी दिल्ली – सं. 1977

5. दुष्मोचन – नागार्जुन – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली – सं. 1977

6. नाप्यौ बहुत गोपाल – अमृतलाल नागर – सं. 1978

7. अंधेरे बन्द कमरे – मोहन राकेश – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली –सं. 1979

8. बीच के लोग – रामकुमार भ्रमर – कला प्रकपशन – शाहदरा – नयी दिल्ली – प्र. सं. 1983

9. डूबते मस्तूल – नरेश मेहता – लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद – सं. 1983

10. गोदान – प्रेमचन्द – प्र.सं. 1936 – सं. 1986

11. छायागत छूनामत – हिमांशु जोशी – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली सं. – 1986

12. शेष यात्रा – ऊषा प्रियंवदा – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली – प्र.सं. 1984, सं. 1990

13. शेष यात्रा – ऊषा प्रियंवदा – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली – प्रं.सं. 1984, सं. 1988

14. उसके हिस्से की धूप – मृदुला गर्ग – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – सं. 1989

15. सागर, लहरें मनुष्य –उदयशंकर भट्ट –आत्माराग एण्ड सन्स, दिल्ली–सं. 1989

16. काली आँधी – कमलेश्वर – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली – सं. 1992

17. रको द्रौपदी – बलभद्र तिवारी – राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा.लि. प्र.सं. 1993

18. चारू चन्द्रलेख – हजारी प्रसाद द्विवेदी – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली – सं. 1993

19. उग्रतारा – नागार्जुन – यात्री प्रकाशन, दिल्ली – सं. 1994

20. मृगनयनी – वृन्दावन लाल वर्मा – प्रभात प्रकाशन, दिल्ली – सं. 1995

21. व्यतीत – जैनेन्द्र कुमार – पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली – सं. 1995

22. अचला एक मनः स्थिति – मुद्राराक्षस – लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली – सं. 1995

23. रतिनाथ की चाची – वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली – सं. 1996

24. मुक्तिपथ – इलाचन्द्र जोशी – लोकभारती, इलाहाबाद – सं. 1996

25. धर्मपुत्र – आचार्य चतुरसेन शास्त्री – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली – सं. 1996

26. जंगल के फूल – राजेन्द्र अवस्थी – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली – सं. 1996

27. रेखा – भगवतीचरण वर्मा –राजकमल (पैपरबैक्स) प्रा. लि. नई दिल्ली – सं.1997

28. पुनर्नवा – हजारी प्रसाद द्विवेदी – राजकमल, नयी दिल्ली – सं. 1997

29. गंगा मैय्या – भैरव प्रसाद गुप्त – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद – सं. 1997

30. शह और मात – राजेन्द्र यादव – राजकमल (पैपरबैक्स) प्रा.लि., नई दिल्ली – सं. 1997

31. वैशाली की नगर वधू – आचार्य चतुरसेन शास्त्री – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली – सं. 1998

32. वैशाली की नगर वधू – आचार्य चतुरसेन शास्त्री – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली – सं. 1998

33. वैशाली की नगर वधू – आचार्य चतुरसेन शास्त्री – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली – दिल्ली – सं. 1998

34. बाणभट्ट की आत्मकथा – हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल (पैपरबैक्स) प्रा.लि. नयी दिल्ली – 1998

35. सुहाग के नूपुर – अमृतलाल नागर – (पैपरबैक्स) प्रा. लि., प्र.सं. – 1960 नयी दिल्ली – 1998

www.ignited.in

36. गैला आँचल – फणीश्वरनाथ '' रेणु '' – राजकमल (पैपरबैक्स) प्रा. लि. नयी दिल्ली – 1999

37. शतरंज के मोहरे – अमृतलाल नागर – भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली प्र.सं. 1959 – सं. 1999

38. डाक बंगला – कमलेश्वर – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली – 1999